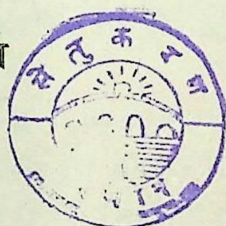
सप्त शक्तियाँ



दीनाधा

सप्त शक्तियाँ

विनोबा



सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक : सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१००१
मुद्रक : सुरभि प्रिंटर्स
इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी
संस्करण : आठवाँ
प्रतियाँ : ३,००० मई, १९९५
कुल प्रतियाँ : २३,०००

मूल्य : सात रूपये
Price : Rupees Seven

Title : SAPTA SHAKTIYAN
Author : Vinoba
Subject : Sociology
SARVA-SEVA-SANGH-PRAKASHAN
RAJGHAT, VARANASI - 221001

प्रकाशकीय

सन् १९६० के जुलाई-अगस्त में लगभग सवा महीने तक पूज्य विनोबाजी इन्दौर में रहे। उस बीच उन्होंने इन्दौर को और इन्दौर के मार्फत सारे भारत को बहुत-कुछ दिया। उनकी वाणी से बहुतों को प्रेरणा प्राप्त हुई।

कस्तूरबाग्राम में भी वे कुछ दिन रहे। वहाँ की बहनों के बीच विनोबाजी ने अहिल्याबाई और कस्तूरबा जैसी मातृ-शक्तियों के पावन स्मरणस्वरूप मातृ-शक्ति का जो महत्त्वपूर्ण विवेचन किया, वह अपने-आपमें अद्वितीय और अनुपम है।

प्रस्तुत पुस्तिका भगवद्‌गीता में उल्लिखित सात नारी-शक्तियों पर किये गये प्रवचनों का संकलन है। कस्तूरबाग्राम में कस्तूरबा-ट्रस्ट की ओर से किये गये प्रवचनों का एक संकलन 'विनोबा के सान्निध्य में' इस नाम से प्रकाशित हो चुका है। उसी पुस्तक में से नारी-शक्ति से सम्बद्ध प्रवचनों का यह संकलन 'सप्त शक्तियाँ' नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

विनोबाजी की एक अन्य पुस्तक 'स्त्री-शक्ति' से पाठक परिचित हैं। दोनों पुस्तकें एक-दूसरी की पूरक कही जा सकती हैं।

नारी-शक्तियाँ

"कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां
स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा"

अनुक्रम

कीर्ति

जीवन में जो कुछ शुद्ध और धार्मिक है,
स्त्रियाँ उस सबकी विशेष संरक्षिका हैं।

—गांधीजी

भगवद्गीता में सात स्त्री-शक्तियों का उल्लेख है। वे हैं: कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा। वास्तव में ये समाज की शक्तियाँ हैं। सात का रूपक हमारी भाषाओं में ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के बाहर की भाषाओं में भी रूढ़ है। सात लोकों का, सात आसमानों का वर्णन मिलता है। इस तरह सप्त शक्तियों की कल्पना बहुत पुराने जमाने से चली आयी है। तरह-तरह से उसका विवरण होता है। भगवद्गीता में चर्चित विवरण इस श्लोक में है:

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।'

× × ×

'कीर्ति' को एक शक्ति के रूप में यहाँ रख दिया गया है। संस्कृति के परिणामस्वरूप, अच्छी कृति के परिणामस्वरूप दुनिया में जो सद्भावना पैदा होती है, उसे कीर्ति कहते हैं।

कीर्तन शब्द भी उसीसे निकला है। भगवन्नाम-संकीर्तन शब्द भी उसी पर से बना है। जहाँ मूल में अच्छी कृति नहीं होती, वहाँ उसमें से सार्वत्रिक सद्भावना पैदा होने का सवाल ही नहीं उठता। इसलिए कृति मूल है। कृति में कीर्ति अन्तर्हित है।

प्रथम शक्ति : कृति

प्रथम शक्ति कृति है। इसके परिणामस्वरूप पूरे वातावरण में सुगन्धि फैलती है। ऐसी सुगन्धि, जो उसको खींचती है, अच्छी कृति के प्रति अनुराग पैदा करती है। यह अनुराग ही कीर्ति है। महापुरुषों के नाम दुनिया में चलते हैं। इसका मतलब यह कि उनकी अच्छी कृतियों ने सारे मानव-जीवन को अंकित किया है और उनका कीर्तन निरन्तर समाज-हृदय में चलता है। अनेक महापुरुषों की जयन्तियाँ प्रचलित हैं। गौतम बुद्ध की जयन्ती मनायी जाती है। ईसामसीह की जयन्ती तो सारी दुनिया में मनायी जाती है। कबीर, नानक, तुलसीदास की भी जयन्तियाँ मनायी जाती हैं। इसी महीने में इन्दौर में भगवान् कृष्ण की जयन्ती, तुलसीदासजी की जयन्ती और अहिल्याबाई की पुण्यतिथि—ऐसे तीन उत्सवों पर हमें बोलना पड़ा। इसी तरह कीर्ति काम करती है।

स्त्रियों की जिम्मेदारी

कृति, सत्कृति या अच्छी कृति जब की गयी, तब उसका जो फल मिलना था, वह समाज को मिला। लेकिन कीर्ति से भविष्यकाल में भी कृति काम करती है। हमने अच्छी खेती की, बहुत मेहनत की, तो हमारे खेत में अच्छी फसल आयेगी।

उस अच्छी कृति का अच्छा फल मिल गया। कृति सफल हुई, वह वहाँ समाप्त भी हुई। लेकिन अमुक किसान ने अमुक खेत में अमुक तरीके से काम किया और बहुत अच्छी फसल पैदा हुई, इस तरह से कीर्ति फैल जाती है और फिर वह कीर्ति इसी प्रकार की कृतियों को प्रेरणा देती है। दूसरे किसान उसका अनुकरण करते हैं। वे भी फल पाते हैं। फिर उनकी कीर्ति और उसमें से फिर अनेक, ऐसी सत्कृतियाँ निर्माण होती हैं। इसलिए कृति की परम्परा चलानेवाली जो शक्ति है, उसे कीर्ति कहते हैं। नहीं तो, मेरी कृति या मेरे परिवार या समाज की कृति हुई, फल उसको मिला, फिर खतम। उसकी परम्परा कैसे चलेगी? माता-पिता की सन्तान होती है, तो 'कुल' की परम्परा चलती है। गुरु के शिष्य होते हैं, तो 'ज्ञान' की परम्परा चलती है। लेकिन कृति की परम्परा कैसे चलेगी? कृति की कोई सन्तान है? कृति के कोई शिष्य हैं, जो कृति की परम्परा चलायेंगे? कीर्ति कृति की परम्परा चलानेवाली एक स्त्री-शक्ति मानी गयी है। अब यह सोचने की बात है कि कृति की परम्परा चलाने की जिम्मेदारी स्त्रियों पर आ गयी है। वैसे तो वह सारे समाज पर ही पड़ती है। लेकिन नारीणां कीर्तिः' कह दिया, तो यह विशेष अर्थ में कृति की सुगन्ध फैलाने की जिम्मेदारी स्त्रियों पर आती है। अच्छी कृतियों को संग्रहीत करने की शक्ति स्त्रियों ने दिखायी है, ऐसा अनुभव भी है। इसीको परम्परा कहते हैं, संस्कृति भी कहते हैं, जो कीर्ति का ही परिणाम है। कृति की यह परम्परा सतत जारी रखने का काम कीर्ति करती है।

हमारी संस्कृति

कीर्ति से कृति-परम्परा जारी रहती है और उसमें से संस्कृति निर्माण होती है—हमारी संस्कृति। जिनको हमने 'हम' माना—एक सीमित समाज हो गया। बड़ा समाज हो, चाहे जो भी हो, उसमें फलाने-फलाने अच्छे काम करने का प्रयास हुआ है, उनके लिए आत्म-भाव उस समाज में पैदा हुआ है। इसीका नाम है, उसकी संस्कृति।

किसी एक ऋषि ने पहले-पहल मांसाहार-त्याग का प्रयोग किया। उसके वहुत अच्छे परिणाम—शारीरिक और मानसिक निकले, तो उस कृति को कीर्ति ने फैलाया। तदनुसार दूसरों ने भी प्रयोग किये। उनकी भी एक परम्परा चली। फिर जिस समाज में वह परम्परा चली, वह उसकी संस्कृति बन गयी।

किसीने बैल और गाय का समुचित उपयोग करने की कल्पना ढूँढ़ निकाली। बैलों का उपयोग ठीक-ठीक करो और गाय का दोहन करो। यह गाय का दूध दोहने की कल्पना भी मनुष्य की एक खोज है। भली-वुरी जो भी है, वह मनुष्य की खोज है। एक प्राणी दूसरे प्राणी का दूध पीने की योजना करते हुए सृष्टि में नहीं दीखता। एक योनि दूसरी योनि का दूध—व्याघ्र-योनि, सिंह-योनि का दूध या खरगोश की योनि का दूध पीये, यह योजना व्याघ्र ने नहीं की। उसने योजना की तो खरगोश को खा डालने की। लेकिन मानव ने दूध पीने की योजना की—गाय, भैंस, बकरी इत्यादि के दूध की। उसने यह भी जाना कि हम इनका दूध पीयेंगे, तो हमारे लिए ये प्राणी

माता-पिता के समान हो जायँगे। माँ का हम दूध पीते हैं, बाप हमारी सेवा करता है। माँ खिलाती है, बाप उत्पादन का काम करता है। बैल हमारे घर के लिए उत्पादन करते हैं, गाय दूध देती है, तो वे माता-पिता की जगह आ गये। जैसे समाजवाद में हर व्यक्ति के लिए पूर्ण संरक्षण की योजना होती है, वैसे ही हमारे इस व्यापक समाजवाद में गाय-बैल को पूरा रक्षण देने की योजना हुई। यह संस्कृति बन गयी।

स्त्रियों का विशेष कार्य

पहले कृति और फिर कीर्ति से परम्परा चलती है। उसमें से संस्कृति बनती है। यह सारा-का-सारा विचार स्त्री के कामों में विशेष माना जायगा। मैंने कहा : परम्परा चलाने की और संस्कृति बनाने की जिम्मेवारी सारे मानव-समाज पर आयेगी। उसमें नर-नारी का भेद नहीं किया जायगा। लेकिन कुछ बातों की विशेष जिम्मेवारी किसी विभाग पर आ जाती है। कीर्ति की जिम्मेवारी स्त्रियों पर आयी, उनके लिए वह चीज अनुकूल थी। कृति सब कर लेते हैं, लेकिन फैलानेवाले दूसरे होते हैं, जिनके हाथ में शिक्षण का अधिकार होता है। आजकल शिक्षण का अधिकार स्कूल के शिक्षक के हाथ में माना जाता है। पर उसका प्रथम अधिकार और विशेष अधिकार माता को ही है। याने स्त्री को ही है। वह बच्चे को दूध पिलाते वक्त अपनी संस्कृति की कहानियाँ सुनायेगी और उससे बच्चे का दिल और दिमाग बनेगा। यह सबकी सब शक्ति विशेषत: स्त्रियों को हासिल होती है। इसीलिए भगवान् ने स्त्री-कार्यों में कीर्ति-कार्य को शामिल किया।

कृति के परिणामस्वरूप समाज में सद्भावना जाग्रत रखकर उसकी परम्परा जारी रहे और तत्परिणामस्वरूप संस्कृति बने—इतना कुल-का-कुल कार्य-विभाग साधारण तथा प्राधान्यत:, विशेषत: स्त्रियों का माना गया है।

२६-८-'६०

श्री

जिस प्रकार हम विस्तृत सौर-जगत् में नये-नये तारों और ग्रहों की खोज करते रहते हैं, उसी तरह हमें प्रतिदिन नयी-नयी दस्तकारियों की खोज करते रहना चाहिए।

—गांधीजी

कीर्तिः श्रीः। दूसरी शक्ति श्री-शक्ति है। 'श्री' शब्द बहुत प्राचीन है। यह भगवान् के नाम के साथ या किसी आदरणीय पुरुष के नाम के साथ भी जुड़ा रहता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण हम कहते हैं। श्रीहरि सर्वत्र मिलता है। मनुष्य को सम्बुद्ध (address) करने में भी 'श्री' लिखते हैं। राजाओं को राजश्री कहते हैं। ज्ञानी ब्राह्मण को ब्रह्मश्री कहते हैं। श्रीमान् शब्द भी प्रचलित है। यह शब्द ऋग्वेद का है। इसका मूल स्थान वेद में है। वहाँ अग्नि का वर्णन करते हुए उसकी श्री का वर्णन किया है: **'स दर्शतः श्रीः'**—अग्नि की श्री है, यानी उसकी श्री दर्शनीय है। जिसकी कान्ति दर्शनीय है, वह अग्नि दर्शतः श्रीः है। **अतिथिर्गृहे-गृहे'**—घर-घर में वह अतिथि है। अतिथि-सेवा

का साधन अग्नि है। वह रसोई करती है। यहाँ उत्पादन की शक्ति के रूप में श्री को देखा। फिर उसका अर्थ लक्ष्मी हुआ। क्योंकि लक्ष्मी उत्पादन से पैदा होती है। अग्नि से लक्ष्मी पैदा होती है। श्रम-शक्ति ही श्री है। जहाँ मनुष्य श्रम नहीं करता, वहाँ किसी प्रकार की कान्ति, शोभा या लक्ष्मी नहीं हो सकती। श्री शब्द के मुख्य अर्थ हैं—लक्ष्मी, कान्ति और शोभा। संस्कृत में हाथ के लिए 'हस्त' शब्द है, 'कर' भी है। हस्त शब्द दुनिया में 'हास्य' प्रकट करता है, याने शोभा प्रकट करता है। जब मनुष्य हाथों से काम करता है, तब दुनिया में हास्य प्रकट होता है। श्री सबका आश्रय-स्थान है। आश्रय शब्द भी श्री पर से बना है। उत्पादन बढ़ता है, तो सबको आश्रय मिलता है। कान्ति, प्रभा भी बुद्धि का बहुत बड़ा आश्रय है। शोभा तो आश्रय है ही। कान्ति शब्द हमें बुद्धि की प्रभा दिखाता है। लक्ष्मी शब्द उत्पादन दिखाता है। शोभा औचित्य दिखाता है। जिस जगह जो करना उचित है, वह वहाँ की शोभा है। मैला अगर रास्ते में पड़ा है, तो वह अशुभ है। अगर खेत में, गड्ढे में पड़ा है और उस पर मिट्टी है, तो वह शुभ (उचित) है। लेकिन हम देखते हैं, विद्वानों के लक्षण ! लिखने के लिए जहाँ बैठते हैं, वहाँ वे फाउन्टेनपेन झाड़ा करते हैं। स्याही आसपास पड़ी रहती है, यह अनुचित है। उसमें शोभा नहीं है। स्वच्छता, पावित्र्य ये सब श्री में आते हैं। बुद्धि की कान्ति की चमक और लक्ष्मी, याने उत्पादन भी श्री में आता है। इसलिए श्री ऐसा शब्द है, जिसमें बहुत सारी अभिलषणीय वस्तुएँ हैं, जिनकी हम अभिलाषा कर सकते हैं, करनी चाहिए, वे सारी जुड़ जाती हैं।

स्त्री की शक्तियों में श्री का वर्णन किया है, तो स्त्री पर यह जवाबदारी आती है कि समाज में उत्पादन बढ़ाने के लिए उद्योगशीलता की प्रेरणा दे, ताकि लक्ष्मी रहे। घर साफ करना, आसपास का आँगन साफ करना इत्यादि स्वच्छता का काम स्त्रियाँ करती हैं। इसलिए संस्कृत में कहावत है :

'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते।'

—घर को घर नहीं कहते, अगर उस घर में गृहिणी न हो। गृहाभिमानी देवता गृहिणी के रूप में हो, तो वह गृह कहलाता है। वह उस गृह की शोभा कायम रखती है और बढ़ाती है।

स्वच्छता श्री है

मुझे तो इस देश में शोभा का कुछ खयाल ही नहीं दीखता है। दूसरे देश में होगा, ऐसा मानकर कहता हूँ। मैंने दूसरे देश देखे नहीं हैं। जहाँ अत्यन्त विषमता होती है, वहाँ शोभा नहीं होती। अपने शरीर में अवयव हैं, उनके अलग-अलग काम हैं। लेकिन किसी अवयव को हम गंदा रखें, तो सारे शरीर को वह दूषित करेगा, शोभाहीन, कान्ति-विहीन बनायेगा। इसलिए हर अवयव अपना काम करता रहे, लेकिन साथ-साथ सब अवयवों को स्वच्छ, निर्मल, कान्तिमान् बनाना जरूरी है, तभी शोभा है। पतंजलि के महाभाष्य में कहा गया है : **'पृच्छ इमं पांसुल-पादम्'**—पूछ ले किसी गंवार से, जिसके धूल से भरे हुए पाँव हैं। उस आदमी को गंवार कहा गया है, जिसके पाँव में कीचड़

लगा है, धूल लगी है। पाँव स्वच्छ रखने की जरूरत, नाखून स्वच्छ रखने की जरूरत गँवार महसूस नहीं करता। हम भी कभी-कभी महसूस नहीं करते। हाथ, नाक, आँख स्वच्छ रखने की, पेट अन्दर से स्वच्छ रखने की जरूरत योगी महसूस करते हैं। योग में देह की स्वच्छता का बहुत खयाल रखा जाता है। कुल-का-कुल स्वच्छता का विभाग श्री में आता है।

प्रचार-शक्ति और औचित्य

उत्पादन-विभाग श्री में आता है। जिससे सृष्टि हँसे, वह भी श्री में आता है और कान्ति की चमक, जो उसकी प्रचारक शक्ति है, वह भी श्री है। कान्ति का अर्थ प्रचार-शक्ति है। सूर्य में सिर्फ आभा होती और प्रभा न होती, तो उसका प्रचार न होता। आभा तो वह है, जब बड़े तड़के सूर्य उगता है और प्रभा वह है, जब सूर्य उगने के थोड़े समय के बाद चारों ओर उसकी किरणें फैलती हैं। वह श्री है। अन्दर तेजस्विता हो और बाहर वह फैली हो, उसका नाम है कान्ति। मैं इन दिनों इन्दौर की दीवालों पर लगे चित्रों को हटाने की बात करता हूँ। उनमें श्री और औचित्य नहीं है। 'दर्शतः श्रीः'—जिसका दर्शन मंगल है, ऐसा वह नहीं है। यह औचित्य-विचार हमें हर जगह करना चाहिए। औचित्य के लिए ज्ञान की जरूरत होती है। इसलिए कुछ हद तक इसमें ज्ञान भी आता है। तो, श्री एक परिणाम है, अनेकविध सावधानियों का परिणाम है। कर्मक्षेत्र में सावधानी, व्यवहार में सावधानी, चिन्तन में सावधानी रखते हैं, तो श्री होती है।

किस वक्त क्या बोलना, इसमें भी औचित्य है। यह भी श्री में आता है।

श्रीमान् ऊर्जित

इस तरह श्री एक परम व्यापक शब्द गीता में शक्ति के रूप में आया है। कहा है :

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥'

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और पार्थ धनुर्धर हैं, वहाँ श्री, विजय आदि सब हैं। इसमें श्री को भूले नहीं हैं। भगवान् के जो छह गुण माने जाते हैं, उनमें भी श्री आता है।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरणा ॥'

—धर्म, यश, ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि मिलकर भगवान् बनते हैं। विभूति का वर्णन करते हुए भगवान् ने कहा है :

'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।'

जो-जो वस्तु श्रीमान् या ऊर्जित है, उसमें भगवान् की विभूति है। इसमें दो विभूतियाँ हैं। श्री को ऊर्ज के साथ रख दिया है। ऊर्जित याने आन्तरिक बल। बाहर जो प्रभा चमकती है, वह श्री है। कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं, जिनकी श्री प्रकट होती है और कुछ ऐसी होती हैं, जिनकी विभूति गुप्त रहती है। वे ऊर्जित हैं। श्रीमान् और ऊर्जित ऐसी दो महान् विभूतियाँ

दुनिया में होती हैं—जैसे भगवान् विष्णु श्री हैं और भगवान् शंकर ऊर्जित हैं। जैसे जनक महाराज श्री हैं और शुकदेव ऊर्जित हैं। गीता में योगी पुरुष के बारे में कहा है कि जब उसका योग अपूर्ण होता है, तब वह श्रीमान् पवित्र कुल में जन्म लेता है अथवा योगी के कुल में जन्म लेता है। पहली श्रीमद् विभूति है और दूसरी ऊर्जित विभूति है।

श्री को बढ़ाना स्त्रियों का काम

इस तरह गीता में समझाने का सार यह है कि श्री को बढ़ाना चाहिए। हमारी श्री कम न हो, शोभा कम न पड़े, हत-श्री न हो, यह एक जिम्मेवारी समाज पर है और शायद स्त्रियों पर विशेष है, ऐसा भगवान् सूचित करना चाहते होंगे, इसलिए उन्होंने श्री की गिनती नारी के गुणों में की। वैसे, **कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा'** इस श्लोक नारी में याने केवल स्त्री नहीं है। मानव की जो शक्ति है, उसे नारी कहा गया है। इसलिए कीर्ति, श्री आदि श्रेष्ठ विभूतियों का जो वर्णन है, वह सारे समाज पर लागू होता है।

२७-८-'६०

वाणी

यदि हम नम्र भाषा में सत्य बात न कह सकें, तो अधिक अच्छा यही होगा कि हम 'ऐसी' बात न कहें।

—गांधीजी

तीसरी शक्ति 'वाणी' है। जाहिर है कि मनुष्य को भगवान् ने अन्य प्राणियों से भिन्न एक वाणी दी है। दूसरे प्राणियों के पास भी अपनी वाणी है, लेकिन वह इतनी स्फुट, स्पष्ट नहीं है, जितनी मनुष्य के पास है। छोटे-छोटे प्राणियों की अपनी वाणी है, जिसको हम समझ नहीं सकते। चींटियाँ, फफूँदी इशारे से काम करती हैं। मधुमक्खियाँ एक-दूसरे से मिल-जुलकर काम करती हैं, इसलिए मुमकिन है कि उनके पास भी अपनी कुछ वाणी हो। वाणी याने विचार-प्रकाशन का साधन। वह उनके पास हो सकता है, लेकिन जहाँ तक हम समझ सकते हैं, मनुष्य को एक विशेष प्रकार की वाणी हासिल हुई है। यह एक बहुत बड़ी शक्ति है, जो भगवान् ने दी है। उसका उपयोग ठीक ढंग से होता है, तो वह शक्ति उन्नति के लिए साधन बन सकती है।

वाणी और भाषा

वाणी और भाषा में अन्तर है। भाषा भगवान् की दी हुई नहीं है, वाणी दी हुई है। भाषा बदलती है, वाणी नहीं। दुनिया में जितने मनुष्य हैं, सबको भगवान् ने आँख याने दर्शन-शक्ति दी है। उसी तरह विचार-प्रकाशन-शक्ति याने वाणी भी दी है। इसका रूपान्तर भाषा में होता है। भाषाएँ अनेकविध हैं। उन भाषाओं में साहित्य बनता है, जो वाङ्मय कहलाता है। वह सब गौण विभाग हैं। मुख्य विभाग वाणी का है। वाणी को हम कल्याणकारिणी शक्ति के रूप में परिणत कर सकते हैं। 'यद् यद् वदति तत्तदेव भवति'—जिसकी वाणी सिद्ध है, वह मनुष्य जो भी बोलेगा, वैसा होगा। यहाँ तक अनुभव पहुँचा है कि वाणी की सिद्धि साक्षात् फलदायिनी होती है। जिस मनुष्य को वाणी की सिद्धि हो जाती है, वह जो शब्द बोलता है, तदनुसार दुनिया में होना ही चाहिए, इतनी शक्ति उसमें आती है। इसीको आशीर्वाद-शक्ति कहा जाता है। सुनते हैं कि आशीर्वाद या शापोक्ति सफल होती है, और हमारा वैसा अनुभव भी है। यह एक सिद्धि है। जो वाणी का उपयोग विशेष प्रकार से करता है, उसे वह सिद्धि मिलती है।

वाणी की मर्यादाएँ—सत्य वचन, मित-भाषण

वाणी के उपयोग की मर्यादाओं में एक यह है कि वाणी से हमेशा सत्य उच्चारण ही होना चाहिए। सत्य की व्याख्या यह है कि जिस चीज को हम सत्य समझते हैं, उसका उच्चारण करना चाहिए। सत्य बदलता जायगा। आज हमें सत्य का जो दर्शन

होता है, उससे भिन्न कल हो सकता है। वाणी में उतना फर्क करना होगा। लेकिन आज सत्य को हम जिस रूप में मानते हैं, उसी रूप में वाणी के द्वारा प्रकट करना चाहिए, दूसरे रूप में नहीं। वाणी की यह मर्यादा है कि वह सत्य हो।

दूसरी मर्यादा यह है कि वाणी से मित-भाषण होना चाहिए। शब्द नपा-तुला हो, जिससे कि सत्य में मदद हो। सत्य के लिए यह पथ्य है। मित-भाषण ही जरूरी नहीं है। जो लोग कम बोलते हैं, वे सत्य ही बोलते होंगे, ऐसी बात नहीं है। छिपाने के लिए भी मित-भाषण हो सकता है, लेकिन छिपाने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि सम्यक् चिन्तन के, ठीक चिन्तन के उद्देश्य से मित-भाषण करना वाणी का एक पथ्य है, जिससे मनुष्य की वाणी से सत्य ही निकलता है। इस तरह मित-भाषण सत्य को मदद करनेवाला पथ्य है।

अनिन्दा-वचन

वाक्-शक्ति के सिलसिले में तीसरा विचार यह आता है कि वाणी से निन्दा-वचन न निकले। चाहे वह निन्दा-वचन सत्य हो, तो भी नहीं निकलना चाहिए। इससे वाणी में हित-शक्ति आती है। सामनेवाले का वाणी से हित होता है। यह शक्ति निन्दा-वचन न बोलने से आती है। खासकर किसी मनुष्य की निन्दा उसके पीछे दूसरे के पास की जाती है। निन्दा ही नहीं, बल्कि किसीके बारे में चिकित्सा अर्थात् दोषों की चिकित्सा, गुणों की नहीं, उसके पीछे दूसरे किसीके पास की जाती है।

एक बात समझने की है कि वाणी जो सिर्फ बाहर प्रकट होती है, वही नहीं है। मन में जो उठती है, वह भी वाणी है। उसको परा वाचा कहा है, जो गूढ रूप है। उससे भी हित-चिन्तन ही होना चाहिए। दोष-चिकित्सा नहीं होनी चाहिए। गुण-ग्रहण की भावना होनी चाहिए। यह एक बहुत बड़ी चीज है, जिसका अभाव आज हम देखते हैं।

अक्सर वाणी से दोष का उच्चारण होता है। उससे दुनिया के वे दोष होते हों या न भी होते हों, सब उस वाणी में दाखिल हो जाते हैं। अगर इस तरह दोष दाखिल हो गये, तो हमने अपना बहुत ही बड़ा नुकसान किया। दोष बाहर थे, याने दूर थे, उनका वाणी से उच्चारण करके हम उन्हें नजदीक ले आये। दूसरे किसीके दोष थे, वे अपनी वाणी में आ गये, अर्थात् नजदीक आ गये। मन में आये बिना वाणी में नहीं आते, अर्थात् मन में भी आये। जो दोष दूसरे किसी मनुष्य के थे, बिलकुल ही बाहर के थे, वहाँ से उन्हें दूर ढकेला जा सकता था। उसके बदले हमने उन्हें अपनी वाणी में प्रतिष्ठित किया, याने मन में भी दाखिल किया। बाहर का कचरा उठाकर अपने मन में दाखिल किया। इसलिए बहुत बड़ा भ्रष्टाचार हुआ।

उभय-मान्य हित-बुद्धि से दोष-प्रकाशन

काम करनेवालों को एक-दूसरे के विषय में, कार्य के सिल-सिले में चर्चा करनी पड़ती है, फिर इसमें दोष-चर्चा, दोष-चिन्तन भी आता है। उसमें हित-बुद्धि से ही अगर दोषों का

आविष्करण कर सकते हैं, तो किया जाय; परन्तु जिसके दोषों का आविष्करण हम करते हैं, उसका हित हो, ऐसी तीव्र वासना मन में होनी चाहिए, जो उसे भी मान्य होनी चाहिए। यदि मेरे मन में यह हो कि मैं उसके हित के लिए बोल रहा हूँ, तो उतना ही काफी नहीं है। उसे भी महसूस होना चाहिए कि मैं जो उसके दोषों का उच्चारण कर रहा हूँ, वह उसके हित के लिए ही कर रहा हूँ। ऐसा जब सामनेवाले को महसूस हो और फिर दोष-प्रकाशन हो, तो वह चुभेगा नहीं। उससे उसकी चित्त-शुद्धि में मदद होगी। इसलिए चित्त-शुद्धि उभय-मान्य हो, याने जिस मनुष्य के लिए बोला जा रहा है, उसे भी मान्य हो और हमें भी उसकी प्रतीति हो। इस तरह दोनों बाजू हित-बुद्धि होनी चाहिए। किसीका ऑपरेशन करना है, तो ऑपरेशन करनेवाले को और जिसका किया जाता है, उसको मान्य होना चाहिए। जब दोनों को मान्य होता है, तभी वह उचित होता है। जिसका ऑपरेशन किया जा रहा है, उसे मान्य न हो, तो अनुचित होता है। उसी तरह उभय-मान्य हित-बुद्धि हो, तभी दोष-प्रकाशन हो सकता है। गुण-दोषों का विश्लेषण हित-बुद्धि से ही होना चाहिए। इस तरह सामान्य व्यवहार की यह मर्यादा है कि किसीका भी दोष-विश्लेषण उसके पीछे न हो, सामने हो और वह उभय-मान्य हित-बुद्धि से हो, अन्यथा बोलने की कोई जिम्मेदारी किसी पर नहीं है।

मननपूर्वक मौन

सत्य भाषण, मित-भाषण, अनिन्दा-वचन, पीठ-पीछे निन्दा, उभय-मान्य हित-बुद्धि से दोष-प्रकाशन—ये सब जैसे वाणी के

साधन हैं, वैसे मौन एक साधना है। मौन का भी समावेश भगवान् ने मानसिक क्षेत्र में किया है। 'मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम्'--वह जो मौन है, वह मननपूर्वक किया जाता है, इसलिए मन के साथ जोड़ा गया है। अगर मौन रखते हैं और अन्दर सद्‌वस्तु का मनन नहीं होता, तो वैसा मौन तो जानवर भी रखा करते हैं और कहा जाता है कि वह उनके आरोग्य का एक कारण है। मनुष्य को बोलना पड़ता है, इसलिए उसके श्वास और प्रश्वास में अन्तर पड़ता है। श्वास-प्रश्वास विषम होते हैं, तो आरोग्य को हानि होती है। जानवरों में श्वास-प्रश्वास समान होते हैं, इसलिए आरोग्य रहता है। वह मौन सिर्फ वाणी का है, लेकिन हम यहाँ उस मौन की बात करते हैं, जिससे वाणी की ताकत बढ़ती है। वह मननपूर्वक किया हुआ मौन है। मनन इस बात का करना है कि किसीके जो गुण-दोष दिखाई देते हैं, उनमें से जो दोष हैं, वे देह के हैं और गुण आत्मा के हैं। दोष अत्यन्त नश्वर हैं, जानेवाले हैं और गुण अमर हैं, टिकनेवाले हैं। अतः गुणों पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए, नश्वर चीज पर नहीं। दोष शरीर के हैं, इसलिए शरीर के साथ भस्म हो जानेवाले हैं। यह चीज बहुत बार समझ में नहीं आती। अक्सर ऐसा भास होता है कि मनुष्य पर गुण और दोष दोनों लागू होते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। दोष देह पर लागू होते हैं और गुण आत्मा पर। सत्य, प्रेम, निर्भयता आत्मा का स्वभाव है। इसलिए आत्मा में सहज ही वे तीनों रहते हैं। ये सारे गुण आत्मा का स्वरूप ही हैं। वैसे इनसे भी भिन्न, आत्मा का एक स्वरूप है, जो निर्गुण कहलाता है; लेकिन उसकी बात

हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। सगुण आत्मा के चिन्तन की ही बात कर रहे हैं। मौन गुण-चिन्तन के साथ होना चाहिए और वाणी से दोषाविष्करण का मौका आये, तो जिसका दोषाविष्करण करना हो, उसके सामने होना चाहिए, और उभय-मान्य हित-बुद्धि से करना चाहिए। वाणी की ये कुछ मर्यादाएँ हम पालन करें, तो वाक्-शक्ति प्रबल होती है।

वाणी का पथ्य

शिक्षण में भाषा-शक्ति विकसित की जाती है। अच्छी भाषा बोली जाय, लिखी जाय, जिसका प्रभाव हो, यह सोचा जाता है। वाणी अन्दर की है और भाषा बाहर की। बाहर की होने पर भी भाषा के विकास की कोशिश की जाती है और उसका उपयोग भी है। अच्छी भाषा से मतलब है, जिस प्रकार की वाणी का अभी हमने विचार किया, उसका ठीक, सम्यक् प्रकटीकरण। वाणी शब्द से भिन्न होती है। वाणी प्रधान है, शब्द उसके साधन हैं। परा वाचा सूक्ष्म होती है। जो मानसिक भाव हैं, वे प्रधान हैं। बहुतों को खयाल नहीं है कि मन में कोई गलत विचार आया और वह बाहर प्रकट नहीं हुआ, तो भी उसका दुनिया पर खराब असर होता है और मन में कोई अच्छा विचार आया और वह वाणी से प्रकट नहीं हुआ, तो भी उसका दुनिया पर अच्छा असर होता है। इसलिए वाणी जो अन्तर्भाव प्रकट करती है, उसका भी नियमन होना चाहिए। अन्दर से जो संकल्प उठता है, वह ठीक उठे, गलत न उठे, इस पर अंकुश हो, यहाँ जाग्रति की

जरूरत है। गलत संकल्प मन में न उठें और उठने पर भी उन्हें वाणी के द्वारा प्रकट न करें, इसका खयाल रखना चाहिए। सत्य वाणी का मतलब अक्सर यह माना जाता है कि जो भी गलत संकल्प मन में आता है, उसे बोल बताना। लेकिन यह तो यत्र-तत्र सर्वत्र मल-विसर्जन करने जैसा ही है। इस तरह कोई मन में उठे हुए सारे विचार बोल देता है, तो लोग समझते हैं कि वह खुला मनुष्य है, लेकिन इस तरह खुला होना ठीक नहीं है। जैसे मल-विसर्जन ठीक जगह होना चाहिए, वैसे ही मन में अगर गलत विचार उठें, तो उन्हें गुरु के पास, पूजनीय पुरुष के पास ही प्रकट किया जाय। वे हमें बचायेंगे। ऐसे विचार सर्वत्र बोलना खुले मन का नहीं, गलत मन का लक्षण है। इन पथ्यों के साथ वाणी का उपयोग हो, तो वाणी बहुत बड़ी शक्ति का रूप लेगी।

२८-८-'६०



स्मृति

पूर्ण शुद्ध बनने का अर्थ है मन से, वचन से और काया से निर्विकार बनना, राग-द्वेषादि के परस्पर-विरोधी प्रवाहों से ऊपर उठना।

—गांधीजी

चौथी शक्ति का नाम है 'स्मृति'। यह एक बहुत ही सूक्ष्म शक्ति है। दुनिया में बहुत कुछ कार्य चलते हैं। उनके मूल में अच्छी, बुरी, दोनों प्रकार की कामनाएँ होती हैं। चाहे बुरी कामनाएँ ही हों, उन्हें करनेवाला बुरी समझकर नहीं करता। अपने फायदे की समझकर ही करता है। कामनाओं के मूल में एक संकल्प होता है और संकल्प करनेवाला मन है। इस प्रकार मूल मन, उसमें से संकल्प, फिर कामनाएँ, तदनुसार कर्म—यह है जीवन का ढाँचा।

शुभ और अशुभ स्मृति

जो कर्म किये जाते हैं वे तो करने पर समाप्त होते हैं, लेकिन उनका एक संस्कार चित्त पर उठता है। वह शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का होता है, क्योंकि कर्म भी शुभ और अशुभ दो प्रकार के होते हैं। उन संस्कारों का रेकार्ड मन में होता है।

उसे स्मृति कहते हैं। ये स्मृतियाँ बरसों बाद भी जाग्रत होती हैं। कुछ स्मृतियाँ दीर्घकालीन रहती हैं। कुछ स्मृतियाँ आती और जाती हैं। सारा-का-सारा रेकार्ड का बोझ चित्त उठाना नहीं चाहता। क्योंकि जितने कर्म हम करें, उनके संस्कार की स्मृति अगर रह जाय, तो बहुत बोझ होता है। इसलिए चित्त उसमें से कुछ फेंक देता है और कुछ रह जाता है, उसको स्मृति-शेष कहा जाता है। वही शेष स्मृति मनुष्य को भूतकाल की तरफ खींचती है, आकृष्ट करती है। अच्छी स्मृतियाँ हों, तो उनसे अच्छी प्रेरणाएँ मिलती हैं। बुरी स्मृतियाँ हों, अशुभ स्मृतियाँ हों, तो उनका खराब असर रह जाता है। अतः साधक के जीवन में सबसे बड़ा प्रश्न होता है–उन स्मृतियों से मुक्ति कैसे पायी जाय ? स्मृति स्वप्न में भी आती है और जाग्रति में भी। सबका चित्त पर बोझ हो जाता है। अब ऐसा हो कि उचित स्मृतियाँ, शुभ स्मृतियाँ याद रहें और अशुभ स्मृतियाँ नष्ट हो जायँ, तब तो जीवन के लिए बड़ा लाभ है। लेकिन कहीं ऐसा हो जाय कि अशुभ स्मृतियाँ रह जायँ और शुभ जायँ, तो जीवन बहुत ही खतरे में है। इन स्मृतियों पर सारा दारोमदार है कि साधक का चित्त आगे कितना बढ़ सकेगा, भूतकाल से कितना जकड़ा जायगा। भूतकाल से प्रेरणा पाकर मनुष्य आगे बढ़ता है। पर भूतकाल के साथ जकड़ गया और बुरी स्मृतियों ने उसे जकड़ लिया, तो आगे की प्रगति गलत राह पर होगी।

स्मृतियों का चुनाव करके हम उसमें से अच्छी स्मृतियाँ याद रखें और बुरी स्मृतियाँ भूलें, यह कैसे हो ? मान लीजिये, मुझे

एक बुरी स्मृति नष्ट करनी है, ऐसा मैंने याद किया, तो वह बुरी स्मृति दुबारा याद हुई । अमुक स्मृति को खतम करना है, यों अगर मैं बोलता या सोचता चला जाऊँ, तो खतम करने के नाम पर उसको याद ही करूँगा । वह दुहरायी जायगी, तिहरायी जायगी–मजबूत, मजबूत और मजबूत ही होगी ।

भूलने की कला

हम एक जमाने में पराधीन थे, गुलाम थे । भारत में अब आजादी हासिल करके हमने गुलामी मिटा दी । लेकिन इतिहास में दोनों का रेकार्ड रह गया । हमने भले ही गुलामी मिटायी और आजादी हासिल की, पर इतिहास में वह गुलामी रह गयी याने स्मृति में वह चीज रह गयी । अब वहाँ से वह कैसे हटायी जाय ? इसके लिए हरि-कृपा का आह्वान करना होता है । अपने चित्त से ही अलग होने की प्रक्रिया करनी होती है, तब मनुष्य अनावश्यक स्मृतियों से छुटकारा पाता है । नहीं तो स्मृति को मिटाने के नाम से ही स्मृति बढ़ती है । काम करते-करते बहुत-सी बातें सुनने में आती हैं । उनको सुनते-सुनते ही भूल जाने की कला सीखनी चाहिए, जिसे मैं सीखा हूँ । कोई शख्स कोई बात सुनाता रहता है, तो मैं सुनता हूँ । लेकिन जहाँ दूसरा वाक्य आया, पहला भूल जाता हूँ । अब बीच में अगर कुछ महत्त्व की खास चीज मुझे मालूम हुई तो उतनी रह गयी, और बाकी कुल-का-कुल खतम । अगर कोई मेरी परीक्षा ले और मेरे सामने एक घंटाभर बोले और फिर कहे कि मैं क्या बोला, बताओ, तो शायद ही मैं दो-चार वाक्यों से ज्यादा बता सकूँगा । कोई निकम्मा बोलता चला जाता है, तो वह सब-का-सब खतम

हो जाता है और दो-तीन बातें अगर मेरे काम की मिलती हैं, तो उसमें से सार-सार रह जाता है। कभी अगर रिपोर्टिंग करने की जिम्मेवारी मुझ पर आ जाय, तब तो हर वाक्य लिख लेना होगा और फिर वह रिपोर्टिंग तैयार हो जायगी, लेकिन सुनकर मैं अगर रिपोर्टिंग करूं, तो इतना कह सकूँगा कि मुझे याद नहीं रहा, बहुत-सा भूल गया, इतना-इतना याद रह गया। इससे चित्त पर कोई बोझ नहीं और अच्छी स्मृतियाँ बिलकुल अंकित हैं। बहुतों को आश्चर्य होता है कि यह शख्स पाँच-पचीस भाषाओं में से अध्ययन करके बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीजें किस तरह याद करता है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

हम बहुत याद करते हैं, याद न करने लायक बहुत-सा बोझ उठाते हैं, इसलिए याद करने लायक स्मृतियाँ कम रहती हैं। वह बोझ अगर हटा सकें, तो अच्छी स्मृतियाँ याद हो सकेंगी। मैं यदि अपना चरित्र लिखने बैठूँ, तो मैं नहीं समझता कि ५-२५ पृष्ठ से आगे बढ़ सकूँगा। बहुत सारा भूल गया। दूसरे कोई याद दिलाते हैं, तो याद आता है। पर साररूपेण जो है, वह जेब में पड़ा हुआ है। जैसा हम जमा-खर्च के खाते लिखते हैं, पिछले साल में दस हजार की खरीद की और बारह हजार की बिक्री हुई। फिर शेष क्या है, वह भी लिख रखे हैं। अगले साल जब हम अपना खाता लिखेंगे, तो उसमें क्या लिखेंगे? शेष रकम बाकी और कुछ लेन-देन हो, जो जारी रखना हो, उतना लिखेंगे। बाकी सबका सब शेष में आ गया। वह दस हजार की खरीद और बारह हजार की बिक्री याद नहीं रखेंगे। इस तरह अपने जीवन में मनुष्य भूलता जाता ही है, चित्त पर बोझ न हो, इसलिए।

लेकिन मूरख मन जो खाता चलाने लायक है, उसको छोड़ देता है और जो खाता आगे चलने लायक नहीं है, उसको अपना लेता है।

चुनाव में गलती

चुनाव में मनुष्य गलती करता है। अच्छा चुनाव यदि करें, तो स्मृतियों में से अच्छी स्मृति ही याद रखें और बुरी स्मृतियाँ छोड़ दें। अगर अच्छाई के लिए चित्त में आकर्षण और सहज आकर्षण हो, तो बुरी स्मृतियाँ रहेंगी ही नहीं, सुनते-सुनते, देखते-देखते चली जायँगी। यह अभ्यास का विषय है। अगर यह सधा, तो उत्तरोत्तर स्मृति-शक्ति बढ़ती जानी चाहिए और वह बढ़ती जाती है। बूढ़ा हुआ, स्मृति गलित हुई, याद नहीं आता ! मेरी दादी बहुत बूढ़ी हो गयी, कोठरी में गयी कुछ चीज लेने के लिए। क्या लेने गयी सो भूल गयी। ऐसे ही वापस आ गयी। फिर याद करने लगी कि क्या लेने के लिए गयी थी, याद नहीं। इतनी स्मृति क्षीण हुई। फिर भी शायद किसीने गहना देने का वादा किया था और वह पूरा नहीं किया था, तो वह चीज उसे याद थी। क्योंकि वह चीज उसने न जाने कितनी दफा दुहरायी होगी। मैंने 'गीता-प्रवचन' में लिख रखा है कि मरते समय परमात्मा करे कि उसे वह स्मरण न रहे, ताकि अगले जन्म के लिए कुंजी बनकर दुर्गति न दे। सारांश, इस तरह मनुष्य की स्मरण-शक्ति क्षीण तो होती है, फिर भी वह अगर उत्तम स्मरण याद करता जाय और उसे रखता चला जाय, अच्छा चुनाव करता चला जाय और अपनी वीर्य-रक्षा करे, तो स्मृति बढ़ती है।

स्मृति-शक्ति के साधन

मैंने एक नयी बात बीच में जोड़ दी 'वीर्य-रक्षा' की। अगर वीर्य-हानि होती है, तो स्मृति क्षीण हो जाती है। अच्छी-बुरी दोनों स्मृतियाँ क्षीण होती हैं। वीर्य अगर रहा, तो स्मृति उत्तम रहती है, बढ़ती चली जाती है। अच्छी स्मृतियाँ ही टिकेंगी, दूसरी क्षीण होंगी। स्मरण-शक्ति तीव्र रहेगी, शक्तिशाली रहेगी या नहीं रहेगी, इसका आधार वीर्य पर है। वीर्य-रक्षा स्मृति-शक्ति को टिकाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अब बिजली के दीये आ गये हैं, लेकिन पुराने जमाने में जो दीया जलता था, उसमें दीये को तेल मिलता था और बत्ती के ऊपर उसकी प्रभा रहती थी। तेल वीर्य है और बत्ती बुद्धि है। उसमें जो चमक है, ज्योति है, वह उसकी ज्ञान-प्रभा है। अगर नीचे का तेल क्षीण हो जाय, तो बुद्धि की ज्ञान-प्रभा, जिसका स्मृति एक अंग है, क्षीण हो जायगी। इस तरह वीर्य-रक्षा पर ही स्मृति-शक्ति निर्भर है।

हम स्मृति-शक्ति बनाना चाहते हैं, तो उसके लिए दो बातें आवश्यक हैं, वीर्य-रक्षा और विवेक। विवेक याने चयन-शक्ति। बुरी स्मृति छोड़ी जाय, अच्छी स्मृतियों को रखा जाय, यह काम विवेक करता है। वीर्य से स्मृति बढ़ती जायगी। वीर्य न रहा और विवेक रहा, तो कुछ अच्छी स्मृतियाँ याद रहेंगी, परन्तु वे बलवान् नहीं होंगी। वीर्य होगा और विवेक नहीं होगा, तो स्मृति-शक्ति बलवान् रहेगी, लेकिन बुरी स्मृतियाँ भी बलवान् रहेंगी। इसलिए वीर्य-साधना और विवेक-साधना दोनों करने से स्मृति का अच्छा चयन होगा और स्मृति-शक्ति बढ़ती जायगी।

फिर जितना बुढ़ापा आता जायगा, उतनी स्मरण-शक्ति बढ़ती जायगी। यह अनुभव की बात है। मेरा भी यही अनुभव है।

मनुष्य अपनी बुरी स्मृतियाँ भूल जाता है

स्मृतियों में भी जो सबसे बुरी स्मृतियाँ होंगी, वे अपनी बुराई की नहीं होंगी। मनुष्य अपने लिए कितना उदार होता है। वह अपनी बुरी स्मृति याद नहीं करता, उसे भूल जाता है। अपनी अच्छी स्मृतियाँ याद रखता है! कभी-कभी अपनी बुरी स्मृति भी याद रहती है, क्योंकि वह बहुत ही बुरी होती है, छोड़ने पर भी नहीं छूटती, लेकिन मामूली बुरी हो, तो मनुष्य उसे भूल ही जाता है। अपने लिए क्षमाशीलता, उदारता, सहिष्णुता रखता है, इसलिए बुरी स्मृतियों को भूल जाता है। अगर इस तरह की उदारता और क्षमा न हो, तो जीवन असह्य हो जाय और आत्महत्या करने की नौबत आ जाय। लेकिन मनुष्य जीवन जीता है, इसका मतलब है कि उसको अपने प्रति आदर है और अनादर के कारणों को भूल जाता है। इसलिए बुरी स्मृतियों में दूसरों की स्मृतियाँ ही ज्यादा याद रह जाती हैं। यह जो अपना-पराया भेद है, वह अनात्म-भावना के कारण, आत्मज्ञान के अभाव के कारण है।

आत्मज्ञान अपना-पराया भेद मिटाता है

जब आत्मज्ञान बढ़ता है, तो दूसरे और भेद मिट जाते हैं। फिर ऐसा अनुभव होता है कि जिसे मैं अपना समझता हूँ, वह सिर्फ इस देह में नहीं है। यह देह एक विशेष जिम्मेवारी के तौर पर मिली है। जैसे मान लीजिये, कोई श्रीमान् का मकान है, उसमें पचास कोठरियाँ हैं और मालिक उनमें से एक कोठरी

में रहता है। वह कोठरी खास उसके चार्ज में है। बाकी कोठरियों में दूसरे लोग रहते हैं। लेकिन कुल मकान उसका है। दूसरी कोठरियों में जो मनुष्य रहते हैं, वे उसीके मकान के अन्दर रहते हैं। वैसे अपना एक बहुत बड़ा मकान है, और उस मकान में लाखों-करोड़ों कोठरियाँ हैं, उनमें से एक कोठरी में एक जिम्मेवार के तौर पर मैं रहता हूँ, उसका उपयोग करता हूँ, उसमें झाड़ू लगाता हूँ, उस कोठरी की विशेष जिम्मेवारी मुझ पर है। दूसरी कोठरियों में मेरे साथी, भाई वगैरह रहते हैं, जो अपनी-अपनी कोठरियों की जिम्मेवारी लेते हैं, लेकिन कुल मिलाकर वह मकान मेरा है, मेरी दूसरी कोठरी में जो रहता है, उसका भी है और तीसरी कोठरी में जो रहता है, उसका भी है। मान लीजिये, एक सामूहिक कुटुम्ब है। उस कुटुम्ब में हम दस-बीस-पचीस भाई इकट्ठा रहते हैं। हमारा सबका मिलकर एक मकान है। पर सब अलग-अलग कोठरियों में रहते हैं। तो जिस-जिस कोठरी में जो-जो रहते हैं, उस कोठरी के वे खास जिम्मेदार हैं। लेकिन कुल मकान सबका है। यह जिसने पहचाना, वह जितनी उदारता अपने लिए बरतेगा, उतनी उदारता दूसरों के लिए बरतेगा। इसलिए जैसे अपनी बुरी स्मृतियाँ भूलेगा, वैसे दूसरों के बारे में जो बुरी स्मृतियाँ याद रह गयीं, गलत स्मृतियाँ याद रह गयीं, उन्हें भी भूलेगा। लेकिन आत्मज्ञान के अभाव में मनुष्य 'मैं भी अलग, वह भी अलग और उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं' ऐसा समझता है, इसलिए अपनी बुराइयाँ तो भूल जाता है, लेकिन दूसरों को याद रखता है। आत्मज्ञान होने पर यह नहीं हो सकता।

आत्मज्ञान की प्रक्रिया

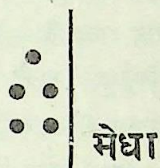
आत्मज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता है, कदम-ब-कदम बढ़ता है। चित्त-शुद्धि के परिणामस्वरूप यदि व्यापक आत्मज्ञान हो जाय, तो बहुत सारे मसले हल हो जायँगे। लेकिन ऐसा होता नहीं है। एक माँ को इतना आत्मज्ञान होता है कि ये जो मेरे बच्चे हैं, वे मेरा ही रूप हैं। चार बच्चे और वह (माँ) मिलकर हम पाँच हैं, ऐसा उसके मन में आता है, तो उसका आत्मज्ञान एक देह तक सीमित न रहकर पाँच देहों तक हो जाता है। उन बच्चों के बारे में भी कोई बुरी स्मृतियाँ हों, तो वह भूल जाती है। बच्चों की बुराइयाँ वह भूल जायगी और जितनी अच्छाइयाँ उन्होंने की होंगी, उतनी याद रखेगी। याने जैसा वह अपने लिए करती है कि अपनी बुराइयाँ भूलना और अच्छाइयाँ याद रखना, वैसे ही अपने बच्चे के लिए करती है। इसी प्रक्रिया के कारण वह अपने में और अपने बच्चे में भेद नहीं पाती। उतना आत्मज्ञान उसका फैल गया। जिसका आमज्ञान अत्यन्त व्यापक हुआ, जो सब सृष्टि के साथ एकरूप हुआ, उसकी सब बुरी स्मृतियाँ खतम होंगी और अच्छी याद रहेंगी। लेकिन ऐसा हमारा होता नहीं, इसलिए ज्यादातर दूसरों की बुरी स्मृतियाँ और अपनी अच्छी स्मृतियाँ याद रहती हैं।

वीर्य, विवेक और आत्मज्ञान

विवेक से अच्छी स्मृतियाँ याद रहेंगी।
वीर्य से स्मृतियाँ याद रहेंगी और मजबूत बनेंगी।
आत्मज्ञान से अपना-पराया भेद मिटेगा।

जब ये तीन चीज़ें इकट्ठी होंगी, तो जीवन का परम मंगल होगा और स्मृति-शक्ति का, जिसे भगवान् कहते हैं, आविर्भाव होगा, जो कल्याणकारी होगी। अन्यथा स्मृतियाँ कल्याण और अकल्याण दोनों कर सकती हैं।

२९-८-'६०



मेधा

स्त्री-जाति पुरुष-जाति से अधिक उदात्त और अधिक ऊँची है। क्योंकि वह आज भी त्याग की, मूक कष्ट-सहन की, नम्रता की, श्रद्धा की और ज्ञान की जीवित मूर्ति है।

—गांधीजी

हर भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनका ठीक पर्याय न उस भाषा में मिलता है और न दूसरी किसी भी भाषा में मिलता है। 'इसलाम' शब्द को लीजिये। इसमें समर्पण और शांति—ये दोनों भाव आते हैं। ऐसे दोनों एक साथ बतानेवाला शब्द हमारे पास नहीं है। जैसे 'धर्म' शब्द है। धर्म का तर्जुमा अंग्रेजी में किसी एक शब्द से नहीं होगा—फूल का धर्म, पुष्प का धर्म कहा, तो इसमें क्वालिटी (गुण) दिखायी जाती है। धर्म याने राइचियसनेस (पवित्रता), धर्म याने ड्यूटी (कर्तव्य), धर्म याने रिलीजन (विश्वास), धर्म याने सस्टेनिंग पावर (टिकाऊ शक्ति)—तो ऐसे कई शब्द इस्तेमाल करने पड़ते हैं। कभी-कभी

एक शब्द अनेक अर्थों में एक ही स्थान में प्रयुक्त किया जाता है, एक तो उसका तर्जुमा अशक्य ही हो जाता है । ऐसे शब्दों में से यह शब्द है—'मेधा' । गीता में त्यागी पुरुष के वर्णन में 'मेधावी' शब्द आया है–'त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्न-संशयः ।'–इसमें वर्णन तो त्यागी का है, लेकिन उसको दो और विशेषण जोड़ दिये हैं—सत्त्वसमाविष्टः, मेधावी और परिणाम बताया है छिन्नसंशयः—उसका संशय खतम हो गया । इसमें भगवान् ने शब्द के मूल अर्थ में प्रवेश किया है । मेधा का एक अर्थ होता है त्याग, बलिदान–अश्वमेध, घोड़े के लिए अपना बलिदान । 'नृमेधः अतिथिपूजनम्'—नृमेध–मनुष्य के लिए, अतिथियों के लिए अपना त्याग अर्थात् अतिथिपूजनम्, ऐसा मनु ने अर्थ समझाया है, यह भाव मेधा शब्द में है ।

मेधा याने परिपूर्ण आकलन

मेधा शब्द मूल में आकलन-शक्ति का द्योतक है । अरबी में अक्ल शब्द है, याने आकलन-शक्ति । 'कलन' धातु को 'आ' उपसर्ग जोड़ने से आकलन शब्द बनता है, वह मेधा है । एक चीज हमारे सामने है, उसका सांगोपांग विश्लेषण करके फिर उसको जोड़ देते हैं, तो उसका पूरा आकलन होता है । यह घड़ी है—घड़ी का एक-एक हिस्सा, एक-एक पुर्जा अलग करके रखें, तो घड़ी की रचना का थोड़ा-सा ज्ञान होगा । लेकिन उसका पूरा ज्ञान तब होगा, जब सारे पुर्जे इकट्ठा करके आप घड़ी बनायेंगे । घड़ी के पुर्जे अलग किये, उसमें एक किस्म का ज्ञान होता है; फिर अलग किये हुए पुर्जे इकट्ठा किये और उसकी घड़ी बनायी, तो दूसरे किस्म का ज्ञान होता है । ये दोनों मिलकर

पूरा आकलन होता है। इसको मेधा कहते हैं। मेधा याने परिपूर्ण आकलन, जो विश्लेषण और संश्लेषण के जरिये होता है। विश्लेषण याने एनेलेसिस, संश्लेषण याने सिंथिसिस। दोनों करने के बाद पूर्ण आकलन होता है। उसको मेधा कहते हैं। हम रोज ईशावास्य का पाठ करते हैं। उसमें परमेश्वर की विभूति का प्रथम 'विउह' फिर 'सम्उह'—ऐसे दो शब्द इस्तेमाल करके परमेश्वर का आकलन बताया है। विउह—अलग-अलग करके समझाना, सम्उह—इकट्ठा करके समझाना। विउह-सम्उह—ये दोनों जब होते हैं, तब पूर्ण आकलन होता है। इसको व्यास-समास भी कहते हैं। संस्कृत में व्यास याने विस्तार, अलग-अलग करना, समास याने गठरी बनाना। दो भिन्न-भिन्न शब्दों से इस विविध प्रक्रिया, आकलन की शक्ति का वर्णन किया जाता है। इस आकलन को मेधा कहते हैं और ऐसी मेधा जिसके पास है, उसे मेधावी कहा जाता है। ऐसी मेधा जहाँ होती है, वहाँ मनुष्य छिन्नसंशय हो जाता है, उसका संशय बाकी नहीं रहता। क्योंकि उभयविध प्रक्रिया करके उस वस्तु का समग्र आकलन—ज्ञान-विज्ञान सहित हो गया। विज्ञान सहित याने विविध ज्ञान, विस्तारित ज्ञान, विश्लेषण ज्ञान हो गया, और उसके साथ ज्ञान मिला—ये दोनों हुए, वहाँ आकलन पूर्ण होता है। इसलिए फिर संशय नहीं रहता।

त्याग के बिना आकलन नहीं

त्याग और बलिदान के लिए भी संस्कृत में 'मेध' शब्द इस्तेमाल करते हैं। वह भी मेधा के साथ जुड़ा है। आकलन

करने के लिए बहुत कुछ त्याग की आवश्यकता होती है। जहाँ मनुष्य भोग-परायण बनता है, वहाँ उसकी आकलन-शक्ति कुण्ठित होती है। आकलन-शक्ति उसमें होती है, जो द्रष्टा बनता है, भोक्ता नहीं। भोक्ता बनने में मनुष्य अपने को उस पदार्थ में समाविष्ट करता है, उस पदार्थ के साथ अपने को जोड़ देता है। आकलन के लिए अपने को उस पदार्थ से अलग करने की जरूरत होती है। यह बड़ा भेद है। भोग के बिना शरीर चलता नहीं। शरीर से काम लेना है, अतः कुछ-न-कुछ भोग की आवश्यकता रहेगी, यह शरीर की लाचारी है। लेकिन ज्ञानशक्ति के लिए पदार्थ से अपने को अलग रखने की जरूरत है। उसका सांगोपांग आकलन अगर करना है, तो उसके साथ अपने को जोड़ नहीं सकते। खेलनेवाला खेल में शामिल होता है, अतः वह खेल को नहीं पहचानता। पर जो निरीक्षक (अम्पायर) होता है, वह पहचानता है; क्योंकि वह द्रष्टा है, खेल के अन्दर शामिल नहीं है, उसने खेल के साथ अपने को जोड़ा नहीं है, अपने को उससे अलग रखा है. इसलिए वह उसका आकलन कर सकता है। भोग में मनुष्य अपने को भोग्य वस्तु के साथ जोड़ता है। जब वह भोक्ता बनता है, तो वह वस्तु भोग्य बनती है और फिर वह ज्ञान-वस्तु नहीं रहती, ज्ञेय नहीं रहती, भोग्य बनती है। आम खाने लगे, उसके साथ हमने अपने को जोड़ दिया। उसके साथ हम अपने को जोड़ देते हैं, तो कुछ रस-निष्पत्ति होती है, कुछ ज्ञान होता है, जो भोग के साथ हो सकता है; लेकिन उसका सांगोपांग व पूर्ण ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान नहीं होता। वह उसके द्रष्टा को होता है, खानेवाले को नहीं।

बीज बोनेवाले को फल-उत्पत्ति तक का जो ज्ञान होता है, वह फल खानेवाले को नहीं होता। लाखों लोग आम खाते हैं, लेकिन आम किस प्रक्रिया से पैदा होता है, उसका ज्ञान उनको कभी नहीं होता।

द्रष्टा को आकलन होता है

वस्तु के समग्र आकलन के लिए उससे अपने को अलग रखना पड़ता है। वस्तु के गुण के आकलन के लिए अगर उसके साथ सम्पर्क जोड़ना ही पड़े, तो ज्ञान-दृष्टि से ही जोड़ना होता है—यह आकलन की प्रक्रिया है। वस्तु से अपने को अलग रखकर उसका द्रष्टा बनना—उस वस्तु के ज्ञान के लिए, उसके किसी गुण के आकलन के लिए ही उस वस्तु से सम्बन्ध जोड़ना पड़े वहाँ जोड़ना, याने इन्द्रियों द्वारा उसके गुणों को ग्रहण करना। जैसे, आम का समग्र ज्ञान अलग रहकर प्राप्त किया, लेकिन उसके रस का ज्ञान हासिल करना है, तो जिह्वा से चखना चाहिए, यह भोग नहीं है। भोग तो उससे खाने में है। आकलन के लिए उस वस्तु के साथ अपने को जोड़ना भी पड़ता है। जितना जोड़ना पड़े, उतना जोड़ना और बाकी अपने को उससे अलग रखना, यह प्रक्रिया आकलन के लिए जरूरी होती है। भोग में हम उसी चीज में खुद दाखिल होते हैं, द्रष्टा नहीं बनते। त्याग में हम द्रष्टा बनते हैं। इस तरह भोग और त्याग में बहुत बड़ा फर्क है, फिर भी देह के लिए कुछ भोग की जरूरत होती हैं, इसलिए उसको कुछ मिष्टान्न देना पड़ता है।

त्याग + आकलन + निर्मलता = मेधा

मैंने जीवन की व्याख्या ही ऐसी की है—इसमें त्याग 'दो'

मात्रा में और भोग 'एक' मात्रा में होता है। जैसे, हाइड्रोजन दो मात्रा में और ऑक्सीजन एक मात्रा में लेने से पानी बनता है, उसी तरह से त्याग दो मात्रा में और भोग एक मात्रा में हो, तो जीवन बनता है। आगे त्याग, पीछे त्याग, बीच में भोग—इस तरह एक भोग के इर्दगिर्द दो त्याग हम खड़े करते हैं, तब जीवन बनता है। जीवन के लिए कुछ भोग की आवश्यकता है, तो मनुष्य उतना भोग करे, लेकिन आकलन के लिए, द्रष्टा बनने के लिए त्याग की जीवन में जरूरत है। इसलिए 'मेध' शब्द त्यागवाचक, त्याग के अर्थ में प्रयुक्त है। इसमें से मेधा शब्द बना। त्याग-बुद्धि मेधा का एक अंग है, आकलन-शक्ति दूसरा अंग है और तीसरा अंग-संशुद्धि—-पावित्र्य, निर्मलता है। अब यह गुण भी ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। गृहस्थाश्रमी पुरुष के लिए 'गृहमेधिन्' शब्द आता है, अर्थात् जिसने अपने घर को पवित्र बनाया। तो स्वच्छता, निर्मलता, पावित्र्य के अर्थ में भी मेध शब्द का उपयोग होता है। इसके लिए ज्ञान की जरूरत है। जब बुद्धि स्वच्छ, निर्मल नहीं होती, तब वहाँ प्रतिबिम्ब ठीक नहीं उठता। हमारी आँखों में कोई दोष आ जाता है, तो सृष्टि का दर्शन ठीक नहीं होता। आँख अगर स्वच्छ रहे, तो दर्शन ठीक होता है। काँच अगर मलिन रहा, तो वस्तु का दर्शन नहीं होता, निर्मल होता है, तो ठीक दर्शन कर सकते हैं। यह जो निर्मलता है, उसको संस्कृत में सत्त्व कहते हैं। **'त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी'**—जो मनुष्य त्यागी है, या जो सत्त्व-समाविष्ट है, याने जिसमें सत्त्वगुण परिपक्व हुआ है और जो मेधावी है, जिसकी आकलन-शक्ति तेज है, जिसको दोहरा बल

उपलब्ध है—याने दो प्रक्रियाओं से पूर्ण बोध, आकलन करने की जिसमें शक्ति है, वह मनुष्य मेधावी है। ऐसा जो मनुष्य होता है, उसके सब संशय छिन्न होते हैं। इन विशेषणों को एकत्र करके भगवान् ने मेधावी शब्द का अर्थ पूर्ण किया है। उस श्लोक में त्यागी का वर्णन करना है, तो भी आखिर में मेधावी जोड़कर वहाँ मेधा की प्रक्रिया ही पूर्ण की है। त्याग-बुद्धि, निर्मलता और द्विविध प्रक्रिया से समग्र आकलन करने की शक्ति—ये तीन मिलकर मेधा शब्द बनता है, तो यह बहुत ही प्राणवान् शब्द हो गया।

'हरिमेधा'

भागवत में उद्धव सुन रहा है और भगवान् बोध देते हैं। जैसे, श्रीकृष्णार्जुन-संवाद गीता में है, वैसे भागवत में माधवोद्धव-संवाद है। उसमें शुकदेव ने उद्धव को 'हरिमेधा' की पदवी दी है। वे भागवत के प्रवक्ता थे और उद्धव हरिमेधा थे, ऐसा कहा है। उद्धव ने अपनी मेधा भगवान् में रखी—भगवान् के लिए त्याग करनेवाले, भगवान् का आकलन करनेवाले, भगवान् के पावित्र्य का ध्यान करनेवाले—ऐसे तिहरे अर्थ में वहाँ 'हरिमेधा' शब्द का उपयोग किया गया है। हरिमेधा याने हरि को ग्रहण करने की बुद्धि। हरि-भक्ति शब्द रूढ़ है, लेकिन यह विशेष शब्द इस्तेमाल किया है, जिसकी मेधा हरिमय है, अर्थात् ये तीन शक्तियाँ जिसने हरि के चरणों में समर्पित की हैं, वह हुआ—हरिमेधा।

आहार-शुद्धि की आवश्यकता

यह जो मेधा शब्द है, उसमें एक अर्थ में आहार-शुद्धि की

भी आवश्यकता होती है। जहाँ आहार-शुद्धि नहीं होगी, वहाँ सूक्ष्म धारण-शक्ति—आकलन-शक्ति—संभव नहीं है। वहाँ बुद्धि जड़ बनेगी और स्थूल आकलन होगा। इसलिए हिन्दुस्तान में विशेषतया इस विचार का विकास हुआ कि आहार-शुद्धि होनी चाहिए। वैसे तो दुनियाभर में आहार-शुद्धि के कुछ-न-कुछ प्रयोग मानव ने जरूर किये हैं, लेकिन हिन्दुस्तान में इस बात का बहुत अधिक चिन्तन हुआ है। योगशास्त्र में परिणाम यह आया कि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—हम सत्त्वशुद्धि करना चाहते हैं, तो उसके लिए आहार-शुद्धि की आवश्यकता होगी। मेधा उस मनुष्य में होगी, जिसकी जीवन-शुद्धि होगी और जीवन-शुद्धि के लिए आहार-शुद्धि एक साधन है। स्वच्छ, निर्मल आहार हो, तो चित्त प्रसन्न रहता है और उसकी आकलन-शक्ति तेज रहती है। वैसे तो मानव-चित्त में इतनी चिन्तन-शक्ति है कि वह समग्र विश्व का द्रष्टा—साक्षी बन सकता है। अब धीरे-धीरे विज्ञान बता रहा है कि हम सृष्टि की गहराई में पैठ सकते हैं। जितना वह अधिक विकसित होगा, उतना सृष्टि का अधिक आकलन होगा। इतना आकलन होने के बाद भी सृष्टि का अंशमात्र ही मनुष्य के हाथ में आता है, इतनी अनन्त सृष्टि पड़ी है कि उसका परिपूर्ण आकलन मानव-बुद्धि करेगी, यह मानने की जरूरत नहीं है। मानव-बुद्धि भी आखिर ईश्वर की पूर्ति का अंशमात्र है। इसलिए एक अंश परिपूर्ण आकलन करेगा, ऐसा नहीं मान सकते। फिर भी विज्ञान के जरिये काफी आकलन हुआ है और वह बढ़ रहा है और जैसे-जैसे वह बढ़ रहा है, वैसे-वैसे इस बात की पुष्टि हो रही है कि आहार-शुद्धि की

आवश्यकता है। यह एक सहज गौण अंग मेधा का आपके सामने रखा।

लाचारी का त्याग

मेधा-शक्ति विकसित हो, तो समाज आगे बढ़ेगा। स्त्री के साथ मेधा का सम्बन्ध जोड़ा है, तो यह एक सोचने का विषय है। स्त्री-पुरुष में आकलन-शक्ति का भेद होना चाहिए, ऐसा नहीं मान सकते; लेकिन यहाँ 'नारीणाम्' कहा, तो अपेक्षा रखी होगी, अधिक त्याग की और अधिक अंतर-शुद्धि, अधिक सात्त्विकता की। गांधीजी ने एक बार स्त्रियों के विषय में कहा या लिखा था—'त्याग-मूर्ति'। लेकिन बहुत-सा त्याग जो स्त्रियाँ करती हैं, वह लाचार-त्याग होता है। बहुत ज्यादा विचार-पूर्वक त्याग होता है, ऐसा नहीं है। एक आसक्ति का त्याग है। गृहासक्ति, पुत्रासक्ति, विषयासक्ति इत्यादि अनेक आसक्तियाँ भी मनुष्य से त्याग करवाती हैं। टॉल्स्टॉय ने लिखा है, लोग ईसा के त्याग की प्रशंसा करते हैं कि ईसा ने समाज के लिए बलिदान दिया, उसका जीवन त्यागमय था। लेकिन सामान्य मनुष्य का जीवन इतना त्यागमय होता है कि जितना त्याग वे ससार के लिए करते हैं, उससे आधा त्याग भी ईश्वर के लिए करेंगे, तो ईसा से आगे बढ़ेंगे। उसमें सार यह है कि स्त्रियाँ बहुत ज्यादा त्याग करती हैं, लेकिन वह त्याग लाचारी का होता है। वह त्याग विशेष आकलन-शक्ति बढ़ाता हो, ऐसा अनुभव नहीं आया। वह त्याग प्रीति से, आकलन-दृष्टि से द्रष्टा बनने के लिए किया हो, ऐसा नहीं होता। भोग-प्राप्ति के लिए वह लाचारी से करना

पड़ता है। वह 'त्याग-मूर्ति' है, फिर भी आकलन-शक्ति उसमें नहीं है। कहा जाता है कि स्त्रियाँ ज्यादा जड़ और भोली होती हैं। भोलापन गुण है, जड़ता गुण नहीं है।

३०-८-'६०



धृति

मन को वश में करना तो वायु को वश में करने से भी कठिन है, फिर भी यदि आत्मा है, तो यह वस्तु भी साध्य है ही।

—गांधीजी

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा'—विभूतियोग में यह वाक्य आया है। यह सारा विभूति का प्रवाह कोई सुव्यवस्थित योजनापूर्वक कहा गया है, ऐसा नहीं है। जैसे-जैसे सहज शब्द सूझा, वैसे बोलते गये। गीता के दसवें अध्याय में कोई सुव्यवस्थित बगीचा नहीं है, ऐसे ही उगा हुआ जंगल है, उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन इस वाक्य में व्यवस्था है। सात शक्तियों का चुनाव करके नारीणाम्—नारियों में इन शक्तियों के रूप में मैं हूँ, ऐसा भगवान् ने अपना स्वरूप बताया। इसमें मैंने एक योजना देखी, इसलिए यह वाक्य मेरे चिन्तन में बहुत समय तक था। इस पर मेरा चिन्तन चलता

था, तो कस्तूरबाग्राम के निवास के निमित्त से मैं उन शक्तियों का विवरण आपके सामने रख रहा हूँ।

मनु का धृतिमूलक धर्म

छठी शक्ति 'धृति' है। धृति शब्द गीता के साथ-साथ अन्य ग्रन्थों में भी आता है। मनु ने 'दशकं धर्मलक्षणम्'—दशविध धर्म कहा है। दशविध धर्म बताने की प्रेरणा दूसरे धर्मग्रन्थों में भी दीखती है। दो हाथ मिलकर दस अँगुलियाँ होती हैं, तो सिखानेवाला अच्छा शिक्षक अपने स्वाभाविक ढंग से सिखाता है—दस अँगुलियाँ गिनकर दस प्रकार का धर्म बताता है। मूसा ने भी ओल्ड टेस्टामेन्ट में दशविध धर्म बताये हैं, जिनको टेन कमाण्डमेन्ट्स कहते हैं। जैनों में भी दशांग धर्म का वर्णन है। कुरान में भी भक्तों का वर्णन करते हुए उनके दस गुणों का वर्णन किया है। मनु द्वारा निर्दिष्ट दशविध धर्मों में प्रथम है 'धृति'।

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥'

यह श्लोक है। इसमें प्रथम नाम धृति का लिया है और दूसरा क्षमा का। दशविध धर्मों का वर्णन यहाँ नहीं करना है। अभी तो इतना ही समझना है कि मनु ने पहला स्थान धृति को दिया और दूसरा स्थान क्षमा को। वहाँ भी भगवान् ने सब शक्तियों की गिनती की, तो उसमें धृति के बाद फौरन् क्षमा को स्थान दिया है, तो वह मनुस्मृति के वचनानुसार आया है, ऐसा मैं समझता हूँ।

धीरज और उत्साह

धृति के दो अर्थ होते हैं। दोनों अर्थों में वह शब्द हमको समझना चाहिए। धृति को समझने में मदद होगी, अगर उसका पूरक शब्द हम लोग ध्यान में लेंगे। वह पूरक शब्द है—उत्साह। गीता में सात्त्विक कर्ता के लक्षण आये हैं। कर्म करनेवाले अनेक होते हैं, कर्ता अनेक होते हैं, हर कोई कर्ता है, लेकिन अकर्ता तो क्वचित् मिलता है, लाखों-करोड़ों में एकआध! बाकी सबके सब कर्ता ही हैं। उन कर्ताओं में जो सात्त्विक कर्ता है, उसके लक्षण बताते हुए गीता ने कहा है : 'धृत्युत्साहसमन्वितः'—धृति और उत्साह से युक्त। धृति और उत्साह ये पूरक गुण हैं एक-दूसरे के। धृति याने धीरज़, उत्साह याने कर्म-चेतना, कर्म-प्रेरणा। अक्सर जवानों में उत्साह होता है, पर धृति कम होती है। धीरज नहीं दीखता। उत्साह का तूफ़ान आया और गया। उत्साह चन्द दिनों में आता है, जाता है, टिकता नहीं; क्योंकि वह धृति नहीं है, जिससे उत्साह टिकता है, सतत कायम रहता है। धृति के गुण के बिना अगर उत्साह आया, तो उस उत्साह पर हम भरोसा नहीं रख सकते, यह तो हम अपने अनुभव से जगह-जगह देखते हैं। बाबा आया। खूब उत्साह दिखाई दिया। क्षणभर के लिए ऐसा भास होता है कि बाबा कहता है, वह सब मान लिया। श्रोताओं की चेतना बाबा के विचारों से अनुप्राणित हुई। पहले दिन इन्दौर में सभा-समाप्ति के बाद पाँच मिनट मौन रखा, तो बहनें-बच्चे सब-के-सब शान्त रहे। अब यह मानना ही पड़ता है कि कुछ शक्ति-संचार लोगों में हुआ।

इस प्रकार का अनुभव जगह-जगह आया, तो स्वाभाविक ही है कि मैं अपना अनुभव मिथ्या नहीं मान सकता कि लोगों में उत्साह है। लेकिन लोगों का अनुभव भी मिथ्या नहीं माना जा सकता कि मेरे जाने के बाद उत्साह खतम हुआ। कुछ लोग कहते हैं कि 'फॉलो अप' (पुनर्वीक्षण) की योजना होनी चाहिए। ठीक है, करो योजना। परन्तु मुख्य योजना गुण-विकास की होनी चाहिए। समाज में धृति होनी चाहिए।

निकम्मा शिक्षण

धृति का शिक्षण कहाँ हो सकता है ? आजकल घरों में कोई शिक्षण नहीं है। घरवालों ने अपना सर्वस्व राज्य पर छोड़ दिया है, बच्चे भी उसके हाथ में सौंप दिये हैं। सबसे श्रेष्ठ रत्न जो उनके पास है—छोटे-छोटे बच्चे, उनको भी सौंप देते हैं, और वह भी ऐसे शिक्षकों के हाथ में, जिनके पास कम-से-कम ज्ञान है, शायद बहुत ज्यादा ऊँचे चरित्रवाले भी नहीं हैं और जिनको कम-से-कम तनख्वाह दी जाती है। सरकार भी मान लेती है कि तालीम का इन्तजाम हो गया। कहीं-कहीं एक शिक्षक का स्कूल होता है। जब मैंने ऐसा स्कूल देखा कि एक कमरे में गुरुजी बैठे हैं और इधर-उधर चार कक्षाएँ लगी हैं, तब मैंने कहा कि यह वन टीचर्स स्कूल (एकशिक्षकीय शाला) की कल्पना अपने शास्त्रकारों को भी सूझी होगी, इसलिए उन्होंने ब्रह्मदेव को चार मुखवाला माना होगा। चार कक्षाएँ साथ लेने की समस्या सामने आने से ही चार मुँह की कल्पना की होगी। शिक्षक ऐसे चार मुँहवाले ब्रह्मदेव होते हैं, तभी तो चार कक्षाओं को शिक्षण देते हैं। लेकिन उसको तो एक ही मुख है,

वह कैसे करे ? कुछ समझ में नहीं आता । शिक्षक की जितनी अवहेलना इधर सौ-सवा सौ सालों में हुई है, उतनी भारत में कभी नहीं हुई । ग्राम-पंचायत के हाथ में तालीम थी, इसलिए वह अपना इन्तजाम करती थी । जगह-जगह तालीम का इन्तजाम था । लेकिन जब से तालीम सरकार का विषय हो गया, तब से उसकी अत्यन्त अवहेलना हो गयी है

तर्क और स्मरण-शक्ति का विकास

शिक्षण में दो विषय सिखाये जाते हैं । आजकल ऐसे तो विषयों के नाम लम्बे-चौड़े होते हैं, लेकिन दो ही विषय के विकास की तालीम होती है—एक स्मरण-शक्ति कैसे बढ़े और दूसरा तर्क-शक्ति कैसे बढ़े ? कुछ पढ़ लिया है तो बिना पुस्तक की मदद से जवाब दे दिया, याने स्मरण-शक्ति का सवाल हुआ । कुछ सवाल ऐसे होते हैं, जिनमें तर्क से, अनुमान से उनके जवाब निकालने होते हैं । तर्क-शक्ति और स्मरण-शक्ति के अलावा मन में कितनी ही शक्तियाँ पड़ी हैं, उन सारी शक्तियों के विकास की कोई योजना नहीं है । शक्ति-निष्ठा बच्चों की बढ़े, साहस बढ़े, निर्भयता बढ़े, प्रेम-करुणा बढ़े, परस्पर सहयोग की भावना बढ़े इत्यादि अनेक गुणों के विकास की जरूरत होती है, उसकी कोई योजना शिक्षण में नहीं है । सिर्फ स्मृति और तर्क की योजना है । स्मृति भी वह नहीं, जो एक बड़ी शक्ति है, जिसके बारे में पहले समझाया गया है । इस स्मृति का अर्थ है : कंठ किया हुआ—रटा हुआ, बिना देखे याद करने की शक्ति याने 'स्याही-चूस' । गुरुजी ने कहा या किताब में लिखा, वह

कितना चूस लिया अपने स्याही-चूस ने ? यह वे सिखानेवाले भी जानते हैं कि हम जो चीजें सिखाते हैं, वे निकम्मी होती हैं, कुछ ध्यान में रखने की जरूरत नहीं है। कौन रखेगा याद उन्हें ? इसलिए तैंतीस प्रतिशत नम्बरों में पास कर देते हैं, याने सड़सठ फीसदी भूलने की गुंजाइश कर देते हैं। किसीको घर में रसोई बनाने के लिए रखते हैं। वह सौ रोटी में से तैंतीस ही अच्छी बनायेगा, तो उसको रखेंगे ? लेकिन शिक्षक उसको पास करते हैं। मतलब यह कि जो बच्चे स्मृति रखना नहीं चाहते, उनसे रखवाना है, तो इतनी गुंजाइश रखनी पड़ती है। ठीक भूलो, ऐसा भी कहना पड़ता है। लेकिन चालीस प्रतिशत अंक पाने-वाला अच्छा कहलाता है, और साठ प्रतिशत हासिल कर लिया तो उत्तम—बहुत अच्छा है, यानी साठ फीसदी चूस लिया !

धृति के बिना उत्साह नहीं टिकेगा

धृति नाम की कोई शक्ति है और उसके विकास की योजना करनी चाहिए, यह तो है ही नहीं। बहुत बड़ी शक्ति, जिससे उत्साह टिका रहता है, उसके बिना उत्साह का उभार आयेगा और जायगा और उससे कुछ शक्ति क्षीण होगी। अकेले उत्साह के आवागमन के साथ उतनी शक्ति का क्षय होगा। अनुभव भी ऐसा होता है। शादी के समय पाँच-छह दिन जागे, खूब काम किया और समारंभ होने पर शक्ति खतम हो गयी। कांग्रेस का अधिवेशन आया, दस-बारह दिन खूब काम किया, खूब ताकत लगायी, रात-दिन एक किये और उसके बाद सब क्षीण हो गया। परीक्षा आयी, रटकर याद किया और जब परीक्षा खतम

हुई, सब शक्ति खतम। इस तरह उत्साह आता है और जाता है, तो उससे बेहतर है कि वह आये ही नहीं, ताकि जाने का मौका न रहे। लेकिन अगर आता है और जाता है, तो मनुष्य की शक्ति क्षीण करके जाता है। वर्डस्वर्थ ने लिखा था : 'Getting and spending we lay waste our powers'—प्राप्त करने और खर्च करने में हम अपनी ताकत को क्षीण करते हैं। इस तरह से उत्साह केवल आया और गया, तो काम नहीं होता। उत्साह के साथ धीरज भी चाहिए। 'धृत्युत्साह'—दोनों इकट्ठा होने चाहिए, तब काम होता है। इसलिए धृति का एक यह अर्थ है कि उत्साह को कायम रखनेवाली शक्ति।

बोधन बुद्धि से, नियमन धृति से

धृति का दूसरा अर्थ है—एक इन्द्रिय। इसका खयाल अक्सर लोगों को नहीं है। एक इन्द्रिय के रूप में इसकी गिनती भगवान् ने की है। मनुष्य के हाथ-पाँव कर्मेन्द्रिय हैं, श्रवण, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं। ऐसे ही अन्त:करण याने अन्दर की एक इन्द्रिय है, उसमें धृति नामक एक इन्द्रिय है। भारतीय मानसशास्त्र में धृति नाम की एक इन्द्रिय मानी गयी है, जैसे बुद्धि नाम की एक इन्द्रिय है। 'बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु'—बुद्धि और धृति के भेद सुन—यह कहकर भगवान् गीता में बुद्धि और धृति का भेद बताते हैं। इसके माने यह है कि धृति नाम की एक इन्द्रिय है, एक स्वतन्त्र शक्ति है। जैसे बुद्धि-शक्ति है, वैसे धृति-शक्ति है, जो प्राण के परिणामस्वरूप पैदा होती है। एक बोध-शक्ति है, जिसे बुद्धि कहते हैं, दूसरी अपने पर काबू रखनेवाली, नियमन करनेवाली शक्ति है,

जिसे धृति कहते हैं। इसकी जरूरत हर यंत्र में होती है। आप एक मोटरकार चला रहे हैं। उसमें दिशा बतानेवाला यंत्र उसकी बुद्धि है, और गतिवर्धक यंत्र उसका प्राण है। इस तरह बुद्धि और प्राण यंत्र में भी होते हैं। शरीररूपी यंत्र में भी एक प्राण-शक्ति होती है और दूसरी बोध-शक्ति होती है। प्राण-शक्ति के परिणामस्वरूप धृति उत्पन्न होती है, यह एक विशेष इन्द्रिय है। जिसका प्राण जितना बलवान्, उसकी धृति उतनी ही बलवान्। धृति का अंग्रेजी में तर्जुमा करना तो मुश्किल है, फिर भी धृति के नजदीक का शब्द है 'विल-पावर'।

अपने को चेक करने की, अपने पर काबू रखने की, संकल्प करने की और किया हुआ संकल्प पूरा करने की हिम्मत—ये सब चीजें धृति के साथ हैं—**'मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः योगेन'**—मन, प्राण और इन्द्रियों की जो क्रियाएँ चलती हैं, उन सबको धारण करनेवाली शक्ति। जैसे, लगाम घोड़े को काबू में रखती है, कभी ढीला छोड़ना, कभी तंग करना, यह सब काम लगाम का होता है, वैसे शरीर में भी एक इन्द्रिय है, वह यह काम करती है। मन एक इन्द्रिय है, ऐसा हम बोलते हैं। इसकी जगह गीता ने यह नयी परिभाषा इस्तेमाल की है—धृति और बुद्धि। ऐसे दो साधन मनुष्य के पास हैं। करण और साधन में फर्क है। चश्मा साधन है और आँख करण। साइकिल साधन है और पाँव करण। पाणिनि ने उसकी व्याख्या दी है, तृतीया विभक्ति करण होती है। **'साधकतमं करणम्'**—सबसे श्रेष्ठ साधन का नाम है करण। चश्मा आँख के बिना काम नहीं देता,

चश्मा उपकरण है, करण नहीं; आँख करण है। चरखे से सूत कातते हैं, तो चरखा उपकरण है, हाथ करण है। जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है, उसीका नाम है करण। और जो गौण है, उसका नाम है उपकरण। उपकरण यानी साधन-सामग्री। धृति नाम का एक करण है, वैसे बुद्धि नाम का भी एक करण है। बुद्धि बोध देगी—कहाँ जाना है, क्या करना है, यह समझायेगी। धृति अपने पर काबू रखकर काम करायेगी, उस काम को करने में जहाँ ढील देने की जरूरत होगी, वहाँ ढील देगी, और जहाँ तंग करने की जरूरत होगी, वहाँ तंग करेगी। यह सारा जितना नियमन-कार्य है, वह धृति से होगा। प्रबोधन, बोधन बुद्धि से होगा, तो नियमन धृति से होगा। नियमन अगर ठीक ढंग से न हुआ, तो बोध व्यर्थ जायगा।

धृति मजबूत बनाने की प्रक्रिया

बुद्धि ने बात तो ठीक समझायी, उससे बोध भी हुआ, लेकिन धृति कमजोर हुई, तो उस कमजोर धृति को मजबूत बनाना, यह भी एक साधना है। धृति अनेकविध छोटे-छोटे संकल्पों द्वारा मजबूत बनायी जा सकती है। एक छोटा-सा संकल्प दो-चार या पाँच दिनों के लिए किया जाय और उतने ही दिनों में पूर्ण किया जाय। एक बड़ा संकल्प करें और पूरा न पड़े, तो वह धृति बढ़ाने का साधन नहीं हो सकता। दस सेर ताकत हो, तो पाँच सेरवाला ही संकल्प करें, ताकि टूटने का मौका न आये। कितनी भी विकट परिस्थिति आये, तो भी हम कृतसंकल्प को पूरा करेंगे, उस निश्चय से चलित नहीं

होंगे, ऐसा तय करके सात दिन का निश्चय करें। सात दिनों में कभी निश्चय के खिलाफ कोई भी विघ्न आये, तो उसके वश न हों और अपना निश्चय पूर्ण ही करें। मान लीजिये, सात दिन तक सुबह उठकर नहाने का संकल्प किया। ठंड के दिनों में नहाने का ऐसा संकल्प स्त्रियाँ करती हैं। तमिळ में बड़ा काव्य लिखा गया है। तीस पद्यों का भजन है। आंडाळ ने लिखा है : **'मारगळी तिंगळ मदीनीरैंद नन्नाळील नीराड पोदुवीर पोदुमीनो नेरिळैयीर।'** मार्गशीर्ष महीने में बहनें स्नान करने का नियम करती हैं और सब नदी पर स्नान करके पूजा करती हैं। एक महीने का संकल्प होता है। उस महीने में बहुत ज्यादा ठंड नहीं होती, तो बहुत कम भी नहीं होती। एक महीने में यह संकल्प-शक्ति पार उतरती है। श्रावण का सोमवार आया, जो करीब चार-पाँच आते हैं, तो उसका भी संकल्प करते हैं कि सोमवार का उपवास करेंगे। बहुत बड़ा संकल्प नहीं है, लेकिन पूरा किया, तो उससे आत्मा का बल बढ़ता है और धृति मजबूत बनती है। ऐसे छोटे-छोटे, अच्छे, आसान नियम करें और उनके पालन के लिए पूरी ताकत लगायें। उसके बाद उससे ज्यादा कठिन संकल्प कर सकते हैं। इस तरह हम संकल्प-शक्ति बढ़ाते चले जायँ, तो धृति मजबूत होती है।

तार्किक और अनुभवजन्य शब्द

जिन पुरुषों में धृति की कमी होती है, उनका बोध चाहे कितना भी बड़ा हो, पर वे ज्यादा पुरुषार्थ नहीं कर पाते।

उनको कुछ सूझा, तो समाज को समझाते हैं; लेकिन समाज को उनके वचनों पर विश्वास नहीं होता। जिन्होंने केवल बुद्धि-बल से बातें बतायीं, लेकिन उस पर अमल करके नहीं दिखाया, वैसे पुरुषों के शब्दों पर समाज का विश्वास नहीं बैठता, उनका असर नहीं होता। एक पश्चिम का दार्शनिक मिला था। उसने कहा : "हमने दर्शन-शास्त्र पढ़ा, ग्रीन पढ़ा, कान्ट पढ़ा और तरह-तरह के सिद्धान्त पढ़े; लेकिन उपनिषद् पढ़ने पर जो दृढ़ निश्चय मालूम हुआ, वह उन दर्शनों से मालूम नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? उपनिषद् पढ़ा, तो लगा कि दृढ़ निश्चय करके कोई बात बता रहा है। यानी संशय वहाँ दीखता ही नहीं, ग्रोपिंग नहीं। वहाँ कोई ढूँढ़ रहा है, वहाँ कोई टटोल रहा है, ऐसा नहीं दीखता। जैसे कोई चीज हाथ में आयी और उसे अपने हाथ से प्रत्यक्ष बताता है और देखकर बोलता है, ऐसा लगता है। इसका पक्का असर, मजबूत असर होता है, जो बड़े-बड़े थोथे ग्रंथ पढ़कर नहीं होता। ऐसा क्यों होता है?" मैंने जवाब दिया कि वे शब्द तार्किक नहीं, अनुभव के हैं। प्रत्यक्ष में चीज का अनुभव करके साक्षात् जो अनुभव आया वह भी कम-से-कम शब्दों में लोगों के सामने रखा जाय, तो वे शब्द जानदार होते हैं, उनमें प्राण-संचार होता है और समाज को वे बोध देते हैं। हम विद्वानों का ग्रंथ पढ़ते हैं, बेकन का ग्रंथ पढ़ा—'Advancement of learning'। अच्छा लगा। उस ग्रंथ में बहुत ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, फिर भी कुछ विकास हुआ, कुछ बोध हुआ, थोड़ा-सा बुद्धि का विकास हुआ। ऐसे विद्वानों के ग्रंथ का कुछ उपयोग नहीं होता है, ऐसा नहीं है। कुछ बोध

मिलता है, लेकिन जिनके पास धृति और बुद्धि होती है, ऐसे जो महान् होते हैं, उनके शब्दों में ताकत आती है। यह धृति नाम की इंद्रिय विकसित करना है, तो उसके लिए तरह-तरह के छोटे-बड़े शुभ संकल्प करना और उनको पूर्ण करना, यह एक तरीका है।

विद्या-स्नातक और व्रत-स्नातक

धृति के लिए जो शिक्षण, अध्ययन अपने देश में चला, उसमें विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक और उभय-स्नातक, ऐसा था। स्नातक वह, जिसने स्नान किया है; वह विद्या पूरी की है। आजकल विद्या-समाप्ति पर गाउन (चोगा) पहनाते हैं। इंग्लैंड का एक तरीका है। वहाँ ठंड होने के कारण स्नान नहीं हो सकता, इसलिए गाउन पहनाते हैं। अपने गरम देश में भी विद्या-समाप्ति पर गाउन आ गया। पुराना रिवाज था कि गुरु के घर में विद्या पूरी होने पर गुरु अपने हाथ से उसको स्नान कराते थे और कहते थे कि तुम फलानी-फलानी विद्या में निष्णात हो याने उत्तम स्नान तुमने किया है, ऐसा उसका मतलब है। विद्या-स्नातक—यानी जो अभ्यास-क्रम तय है, जो विद्या निश्चित है, वह उन्होंने पूरी कर ली और वे जाना चाहते हैं, तो गुरु कहते हैं 'ठीक है, तुम जा सकते हो, तुम विद्या-स्नातक हो।' फिर चाहे वह विद्या बारह साल के बदले दस साल में ही प्राप्त कर ली हो।

दूसरा था—व्रत-स्नातक, उसने विद्या तो पूरी नहीं की, लेकिन बारह साल तक ब्रह्मचर्य का पालन किया है। गुरु उसे स्नान कराते हैं और कहते हैं कि तुम व्रत-स्नातक हो; यह नहीं

कि तुमने निश्चित विद्या हासिल नहीं की है, उसके पेपर्स नहीं दिये हैं, तो तुम फेल हुए। इन बारह सालों में तुमने खूब काम किया है, व्रतों का पालन किया है, जंगल में गये हो, गुरु की सेवा की है, निद्रा को जीता है, इंद्रियों पर काबू पाया है; ऐसी बातें भी थीं, जो तुम्हारी समझ में नहीं आयीं और विद्याभ्यास पूरा नहीं हुआ; मगर तुम जाना चाहते हो तो जाओ, तुम व्रत-स्नातक हो।

गुरु उसको पूर्ण समझते थे, जो उभय-स्नातक होता था। विद्या पूर्ण की और व्रत भी पूर्ण किया, वह परिपूर्ण स्नातक हो गया। उसको उभय-स्नातक कहते हैं। व्रत-स्नातकवाली बात धृति के विकास के लिए थी। धृति-शक्ति के विकास के लिए आश्रम में एक कार्यक्रम होता था, उसमें जो प्रवीण, निष्णात हो गये, वे व्रत-स्नातक हो गये और बुद्धि के विकास के लिए जो कार्मक्रम रखा था, वह जिन्होंने पूरा किया, वे विद्या-स्नातक हो गये।

धृतिविहीन एकांगी शिक्षण

धृति का शिक्षण एक बहुत बड़ी बात है। उसकी कोई योजना न अपने पास घर में है, न स्कूल में है। कुछ थोड़ी-सी विद्या मिलती है, जिसमें स्मृति और तर्क के अलावा किसी और गुण का विकास नहीं होता। सत्य पर उत्तम निबंध लिखनेवाला पास हो गया, भले वह सत्य न बोले और दुनिया को ठगता ही रहे। अच्छा निबंध लिखा, स्मरण-शक्ति अच्छी साबित कर ली

और तर्क-शक्ति साबित कर ली, तो उसकी स्मृति-शक्ति साबित हो गयी और ऐसे ठीक ढंग से सुसंगत लिखा कि जिसमें आकर्षण हो, तो उसकी तर्क-शक्ति भी सिद्ध हो गयी। दोनों शक्ति में वह पास हो गया, लेकिन दुनिया को ठगता है, असत्य आचरण करता है, तो वहाँ कोई सवाल नहीं है! यह बात एकांगी तो है ही, लेकिन इतनी खतरनाक है और उसका परिणाम यह है कि हममें कहने की हिम्मत नहीं होती कि सबको साक्षर बनाओ, तो समाज का कल्याण होगा। करोड़ों रुपयों का खर्च केवल लोगों को 'क, का, कि, को' सिखाने में हो और माना जाय कि लोग उन्नत हो गये और अच्छे नागरिक हो गये! जो पढ़-लिख चुके और कहते हैं कि अच्छे नागरिक हुए, क्या वे अपने हिसाब पेश करते हैं? क्या वे प्रामाणिक हैं? बेहतर है कि जो नहीं पढ़े, वे कुछ प्रामाणिक है, अपना श्रम करते हैं, सन्तुष्ट रहते हैं। इसलिए यह पढ़ना-लिखना अगर हम कर लें, तो सारे भारत की एक शक्ति हमने बढ़ायी, भारत उन्नति करेगा, तरक्की करेगा, ऐसा कहने की हिम्मत नहीं होती।

अविद्या और विद्या

एकांगी विद्या बहुत नुकसान करती है, इसलिए उपनिषदों ने यहाँ तक कह दिया कि जो केवल विद्या के पीछे जाते हैं, वे घने अंधकार में प्रवेश करते हैं : **'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः; अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया, इति शुश्रुम धीराणां।'** जो केवल अविद्या में पड़े हैं, वे भी घने अंधकार में हैं और जो विद्या

में पड़े हैं, वे उससे भी ज्यादा घने अन्धेरे में पड़े हैं। इससे अधिक और कहने को क्या बाकी रहता है? यह बड़ा हिम्मत-वाला वाक्य है। ऐसा वाक्य मुझे दूसरे ग्रन्थ में पढ़ने को नहीं मिला, जहाँ बिलकुल हिम्मत के साथ ज्ञान का भी निषेध किया गया हो। जो अज्ञान में प्रवेश करता है, वह तो ठीक है, कुछ न कुछ काम भी करेगा, खेती करेगा, कुछ है उसके पास। यह भार नहीं होगा, लेकिन जो केवल विद्या की उपासना करे, वह उससे भी घने अंधकार में जायगा, यह बात बड़े पते की है। इस तरह धृति-विहीन विद्या अगर रहती है, तो वह एकांगी रहती है और उससे नुकसान होता है।

धृति का एक अर्थ है उत्साह, याने उत्साह को टिकाने-वाला गुण और दूसरा अर्थ है अन्तःकरण की एक शक्ति। जैसे बुद्धि नाम की एक शक्ति है, उसी प्रकार बुद्धि की पूर्ति करने-वाली शक्ति धृति है, जो अमल में बहुत ही अनिवार्य है। अमल केवल बुद्धि से, कानून से नहीं होता। बुद्धि से विधान बनेगा, लेकिन उस पर जो अमल होगा, वह धृति के बिना नहीं होगा। इसलिए भगवान् ने उसको स्वतंत्र शक्ति मानकर गीता में उसका उल्लेख किया है और यहाँ शक्तियों की गिनती में धृति शब्द इस्तेमाल किया है।

स्त्रियों में धृति अधिक

इस विषय में स्त्री से खास अपेक्षा भगवान् ने की है, ऐसा मानना होगा और दीखता भी वैसा ही है। बीमारों की सेवा

करने में कभी-कभी बहनों को इतनी तकलीफ उठानी पड़ती है कि वहाँ कोई दूसरा जाय तो उसका दिल फट जाय, वह टिक न सके। लेकिन बहनें बहुत कष्ट और तकलीफ उठाकर रोज एक-एक क्षण मृत्यु की तरफ जानेवाले को देखते हुए भी सेवा करती हैं। यह सारी ताकत बहनों में होती है। जहाँ महिलाओं की कुछ शक्ति का विकास हुआ है, वहाँ ऐसा अनुभव आता है। इससे उल्टा भी अनुभव आता है कि वे जरा भी सहन नहीं कर सकतीं। अपने बच्चे का ऑपरेशन देखने तक नहीं जा सकतीं। ऑपरेशन होगा तो बच्चा बचेगा, ऐसा लगता है। ऑपरेशन की क्रिया कठोर और निष्ठुर तो है नहीं, दयालु क्रिया है, फिर भी किसी माँ से कहा जाय कि उस काम में मदद करो, तो मदद करने की बात अलग रही, देखने भी वह नहीं जा सकती। इतनी भी धृति नहीं है, क्योंकि शिक्षण नहीं मिला है। फिर भी कुल मिलाकर स्त्रियों में सहनशीलता बहुत होती है। उनके सामने सहन करने के प्रसंग भी काफी आते हैं। वे इससे धृति गुण का विकास अधिक कर सकती हैं, ऐसा मान सकते हैं, कम-से-कम भगवान् ने तो मान लिया है। भारतीय संस्कृति ने भी इतनी आशा रखी है। अहिंसा का जब जमाना आयेगा, तब मेरा खयाल है कि अहिंसा में एक विशेष प्रकार की धृति की जरूरत होगी। हिंसा में दूसरे प्रकार की धृति की जरूरत रहती है। हिंसा और अहिंसा—दोनों जगह धृति की जरूरत है। हिंसा में जिस धृति की जरूरत है, उसमें स्त्रियाँ शायद कम पड़ें, वहाँ टिक न सकें, लेकिन अहिंसा में जिस धृति की जरूरत है, मुमकिन है कि पुरुष से स्त्रियाँ कुछ ज्यादा टिकें।

तालीम की दिशा

इस पर पूछा जाता है कि कार्यक्रम क्या बनायें ? पाठ्यक्रम क्या बनायें ? पाठ्यक्रम में गणित, भूगोल आदि विषय हैं। ऐसे विषय तो मैं दो-चार हजार पेश कर सकता हूँ। लेकिन बाह्य विषयों की तालीम नहीं देनी है। कुछ तालीम इन्द्रिय की, कुछ देह की, कुछ वाणी की, कुछ चित्त की तालीम होनी चाहिए—ये ही तालीम के विषय हो सकते हैं। चित्त में जो विविध शक्तियाँ हैं, उनके विकास की तालीम होनी चाहिए। यह सारा विचार नहीं होता। गणित, हिन्दी, भूगोल कितने घंटे सिखाया जाय, यही विचार होता है। गणित, भूगोल, अंग्रेजी सीखने के लिए क्या हमारा जन्म हुआ है ? इसके साथ हमारा क्या ताल्लुक है ? जितना लाभदायक हो, उतना हम सीखेंगे, नाहक सारा गणित-शास्त्र सीखना क्या हमारा धंधा है ? एक सुप्रसिद्ध कहानी है—एक मल्लाह था और एक गणितज्ञ था। दोनों एक किश्ती में जा रहे थे। गणितज्ञ ने मल्लाह से पूछा कि गणित-शास्त्र जानते हो ? मल्लाह ने कहा : गणित क्या चीज है, मैं नहीं जानता। प्रोफेसर ने कहा : तेरी चार आने जिंदगी बरबाद हो गयी। मल्लाह ने कहा : अच्छी बात है। फिर पूछा : भूगोल-शास्त्र मालूम है ? बोला : भूगोल-शास्त्र क्या बला है, यह भी मैं नहीं जानता। उन्होंने कहा : तुम्हारी और चार आने जिन्दगी खतम हो गयी। इतने में जोर से आंधी आयी, बहुत बड़ा तूफान आया। किश्ती डूबने की नौबत आयी, तो मल्लाह प्रोफेसर साहब से पूछता है कि आपको

तैरना आता है ? प्रोफेसर ने कहा : "ना, यह तो मैं नहीं जानता।" मल्लाह ने कहा कि मेरी तो चार और चार, आठ आना जिन्दगी खतम हुई, आपकी तो सोलह आने खतम होने-वाली है।

३१-८-'६०



क्षमा

जो हमसे प्रेम रखते हैं, उन्हींसे प्रेम रखना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो तब है, जब हम अपने से द्वेष रखनेवालों से भी प्रेम करें।

—गांधीजी

धृति के बाद क्षमा। क्षमा को एक विशेष शक्ति के रूप में माना है। उसका एक स्वतंत्र मूल्य है। कोई अपराध करता है, इजा पहुँचाता है, तकलीफ देता है—निन्दा, अपमान इत्यादि करता है, तो उसे सहन करने को, मुआफ करने को क्षमा कहते हैं।

सहज क्षमा

क्षमा यानी पृथ्वी। पृथ्वी सहज भाव से हम सबका बोझ उठाती है। हम उसे पीड़ा पहुँचाते हैं, लेकिन उसका एहसास उसे नहीं होता। हम उसे खोदते हैं, तो भी उसके बदले में वह हमें अच्छी फसल ही देती है। इस तरह उसके स्वभाव में क्षमा है। क्षमा का भी बोझ हो, तो वह शक्ति नहीं बनती। अन्दर

क्रोध है, उसे काबू में रखकर क्षमा करें, तो वह एक बड़ी अच्छी बात है, लेकिन क्षमा का पूरा अर्थ उसमें नहीं आता। सहज भाव से ही जब क्षमा की जायगी, तब क्षमा की शक्ति प्रकट होगी। इसलिए प्रयत्नपूर्वक भी क्षमा करनी चाहिए। चित्त में क्रोधादि विकार पैदा हुए हों, किसीने अपकार किया हो, तो उन क्रोधादि विकारों को मिटाना चाहिए। यह साधक की भूमिका बहुत आवश्यक है। लेकिन क्षमा की शक्ति तब बनेगी, जब क्षमा सहज होगी। ज्ञानदेव महाराज ने एक प्रार्थना में कहा है : **'शान्ति, क्षमा, ऋद्धि-समृद्धि, हे हि पाहतां मज उपाधि।'** किसी पर दया, क्षमा करना भी एक ऋद्धि-समृद्धि है और वह भी मुझे उपाधिरूप मालूम होती है। यानी वह भी ऋद्धि है। इसलिए क्षमा का चित्त पर बोझ न हो। जैसे किसीने अपराध किया, तो उसका बदला लेने की वृत्ति होती है। इसका चित्त पर बोझ होता है, वैसे ही किसीने अपराध किया हो और मैंने उसे क्षमा कर दिया, तो उसका भी चित्त पर बोझ होता है। कवियों ने कहा है कि चन्दन के वृक्ष को हम जिस कुल्हाड़ी से काटते हैं, उसी कुल्हाड़ी को वह सुगंध देता है। यानी वह सिर्फ क्षमा ही नहीं करता, उसे अपना गुण भी देता है। स्पर्शमणि पर लोहे से प्रहार किया जाय, तो भी वह लोहे को सोना बना देती है। यानी क्षमा उसका स्वभाव है।

क्षमा शक्ति कब बनती है ?

क्षमा करना एकदम से नहीं बनेगा। इसके लिए प्रयत्नशील रहना होगा। उस प्रयत्नशील अवस्था को हमें गौण नहीं मानना

चाहिए। क्षमा की शक्ति तब बनती है, जब हमने स्वभाव से ही क्षमा की हो। हमने क्षमा की है, ऐसा आभास न हो। हमने कुछ भी नहीं किया है, ऐसा भास होना चाहिए। हम क्षमा न करते, तो और क्या करते? और कुछ करने की वृत्ति, शक्ति या स्वभाव हमारा है ही नहीं। हम क्षमा के अलावा और कुछ कर ही नहीं सकते।

वसिष्ठ की क्षमा

वसिष्ठ और विश्वामित्र की कहानी प्रसिद्ध है। वसिष्ठ को देखकर विश्वामित्र में मत्सर पैदा हुआ। वह तपस्वी तो बहुत बड़ा था, बहुत भारी तपस्या करता था, लेकिन उसने वसिष्ठ के पुत्र को आकर मारा। वसिष्ठ ने क्रोध नहीं किया। विश्वामित्र ने देखा कि वसिष्ठ बिलकुल अडोल रह गया है, बिलकुल बेशरम है, तो उसे भी मारना चाहिए। रात का समय था। चाँदनी छिटकी हुई थी। वसिष्ठ-अरुन्धती का वार्तालाप चल रहा था कि विश्वामित्र छिपकर वहाँ पहुँचे। वे उन दोनों की बातें सुनने लगे। अरुन्धती ने वसिष्ठ से कहा: "चाँदनी कितनी सुन्दर है।" वसिष्ठ बोले: "हाँ, बहुत सुन्दर है, विश्वामित्र की तपस्या के समान मनोहर है।" यह जब विश्वामित्र ने सुना, तो विश्वामित्र पिघल गये। उनसे रहा नहीं गया, वे एकदम सामने आये और वसिष्ठ के चरणों पर झुक गये। उनको ऊपर उठाते हुए वसिष्ठ ने कहा: 'ब्रह्मर्षे, उत्तिष्ठ!' तब तक वसिष्ठ ने विश्वामित्र को 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहा था, लेकिन

जब विश्वामित्र ने नम्र होकर प्रणाम किया, तब वह संज्ञा वसिष्ठ ने उनको दी ।

वसिष्ठ ऋषि क्षमा के लिए मशहूर हो गये । उनकी क्षमा की खूबी है । उन्होंने अपराध सहन किया इतना ही नहीं, लेकिन जिसने अपराध किया, उसका जो गुण था, उस गुण का ही स्मरण करते रहे । दोष-ग्रहण किया ही नहीं । अपने पर किये अपकार को याद ही नहीं किया । यह जो 'सहज क्षमा' है, यह बहुत बड़ी शक्ति है ।

क्षमा यानी द्वन्द्व-सहिष्णुता

क्षमा का दूसरा अर्थ यक्ष-प्रश्न में आया है । यक्ष ने पूछा : "क्षमा यानी क्या ?" युधिष्ठिर ने जवाब दिया : "क्षमा द्वन्द्व-सहिष्णुता" सहन-शीलता, द्वन्द्व-सहिष्णुता । द्वन्द्व यानी परस्पर विरोधी बर्ताव—शीत-उष्ण, मान-अपमान इत्यादि द्वन्द्व हैं । द्वन्द्व कुछ भौतिक होते हैं, कुछ सामाजिक होते हैं । गीता में उल्लेख आया है—योगी मान-अपमान को समान मानता है । गुणातीत पुरुष का भी वर्णन आता है । हरएक वर्णन में चाहे वह योगी का हो, चाहे संन्यासी का, द्वन्द्व सहन करना—यह लक्षण गीता ने बार-बार कहा ही है । द्वन्द्व-सहिष्णुता व्यापक वस्तु है—मान-अपमान, सुख-दुःख सब सहन करना पड़ता है ।

सुख को भी सहन करने की बात है । दुःख तो मनुष्य सहन करता ही है । दुःख सहन करने की बात कही जाती है, लेकिन सुख सहन करने की भाषा लोग नहीं बोलते । सुख भी सहन करना पड़ेगा । मनुष्य दुःख में असुरक्षित होता है, वैसे

सुख में भी असुरक्षित होता है। गाड़ी जब चढ़ाव पर होती हैं, तब भी गाड़ीवाला चौकन्ना रहता है। गाड़ी जब उतार पर रहती है, तब भी वह चौकन्ना रहता है। वह निर्भय, शांत, स्वस्थ तब रहता है, जब गाड़ी उतार पर भी न हो और चढ़ाव पर भी न हो, समान रास्ते पर हो। सुख-दुःखातीत जो मध्य-भूमिका है, वह समान रास्ता है। सुखावस्था यानी गाड़ी उतार पर है, बैल दौड़े जायँगे जोरों से, गाड़ी गढ़े में जायगी, गिरेगी। इन्द्रियों को सुख का आकर्षण होता है, तो इन्द्रियाँ जोरों से उस तरफ खिची चली जाती हैं। दुःख चढ़ाव के जैसा है, वहाँ बैल आगे बढ़ना नहीं चाहते। इन्द्रियाँ ऊपर जाने की हिम्मत ही नहीं करतीं। कभी-कभी कर्तव्य-परायण मनुष्य को दुःख की तरफ जाना ही पड़ता है, तो इंद्रियों को जोर देकर आगे ढकेलना पड़ता है, तब वे जाती हैं। सुख में भी खतरा, दुःख में भी खतरा। दोनों अवस्थाओं से भिन्न रहने की जरूरत है। इसलिए जैसे दुःख को सहन करना है, वैसे सुख को भी सहन करना है। अपना कोई मित्र दुःख में है, तो हम उसकी मदद में जाते हैं, हमें सहानुभूति मालूम होती है और उसे दुःख में से छुड़ाने की इच्छा होती है। ऐसा ही अपना कोई मित्र सुख में पड़ा हो, बहुत ऐशो-आराम, भोग में पड़ा हो, तो हमें दया आनी चाहिए। उसके पास हमें पहुँचना चाहिए, समझाना चाहिए कि तू गिर रहा है, यह ठीक नहीं, इतना सुख अच्छा नहीं। इस तरह दुःख के लिए जो वृत्ति हम रखते हैं, वही सुख के लिए रखनी चाहिए और दोनों को सहन करना पड़े, तो सहन कर लेना चाहिए।

यहाँ क्षमा का अर्थ 'द्वन्द्व-सहिष्णुता' है। सामाजिक क्षेत्र में परस्पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हुए दूसरे मनुष्य के द्वारा अपने पर अनेक प्रकार के अपकार, जाने-अनजाने हो जाना सम्भव रहता है, उस हालत में उसे मुआफ करने की वृत्ति, उसे मुआफ करने का कोई बोझ भी न हो चित्त पर, इसका नाम विशेष अर्थ में 'क्षमा' है।

जहाँ सप्तविध शक्तियों का वर्णन किया जा रहा है, वहाँ क्षमा का अर्थ द्वन्द्व-सहिष्णुता के रूप में लेने की जरूरत नहीं मानता। परन्तु अपराध सहन करना, अपकार के बदले उपकार करना यह क्षमा का विधायक, सक्रिय रूप हुआ।

क्षमा की सीढ़ियाँ

किसीने अपराध किया तो उसे दण्ड न देना बिलकुल प्रथम स्थिति है।

उसे दण्ड न देना, उस पर न चिढ़ना और उसे भूल जाना दूसरी स्थिति है।

तीसरी स्थिति है--कोई अपकार करने आया है, उसमें भी गुण पड़े हैं, उन गुणों का ग्रहण करना।

चौथी स्थिति है-- अपकार करनेवाले पर उपकार करने का मौका आये, तो उस मौके को न खोना और अपकारकर्ता पर उपकार करना।

पाँचवीं स्थिति है—यह सब करते हुए चित्त पर इसका कोई बोझ न हो, स्वभाव से ही किया जा रहा है, ऐसी अवस्था होना।

क्षमा की ये उत्तरोत्तर भूमिकाएँ होंगी और एक बहुत विशाल क्षेत्र खुल जायगा सामाजिक व्यवहार के लिए, सामाजिक कृति के लिए, जिसे आजकल हम सत्याग्रह आदि के नाम से पुकारते हैं। हमने जिसमें प्रतीकार की भावना मानी है, वह क्षमा का एक बहुत ही छोटा रूप है। पर जब उसका, सत्याग्रह का, सूक्ष्म अर्थ करने जाते हैं, तो वह क्षमा का ही रूप आता है। ईसामसीह से पूछा गया कि हम एक दफा क्षमा करें और उसका सामनेवाले पर परिणाम न हो, तो क्या किया जाय? उसने कहा : सात दफा क्षमा करो। फिर पूछा : सात दफा क्षमा करने पर भी परिणाम न आये, तो क्या किया जाय? ईसामसीह बोले : सातगुणित सात दफा क्षमा करनी होगी। इसका मतलब यह है कि क्षमा करो ही करो। क्षमा ही करते जाओ।

क्षत्रियों की क्षमा

महाभारत में कहानी है–कृष्ण ने शिशुपाल के शत अपराध सहन किये और जब उससे ज्यादा अपराध हुआ, तो उसका शासन किया। क्षात्र-वृत्ति में इस मिसाल को हम 'क्षमा' कह सकते हैं। लेकिन क्षमा की जो अपनी वृत्ति है, उसमें यह नहीं आयेगा कि सौ दफा क्षमा की, तो अब नहीं कर सकते। इसमें यह माना गया है कि क्षमा एकांगी गुण है। यह मानकर कहा

भी गया है कि 'न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसि क्षमा'– हमेशा क्षमा करना ठीक नहीं, हमेशा तेजस्विता दिखाना ठीक नहीं। यह एक सामान्य अर्थ का वचन है। यहाँ तेज और क्षमा दोनों एक-दूसरे के पूरक माने गये और कुछ अर्थ में विरोधी भी माने गये हैं। हमेशा तेजस्विता ठीक नहीं, कुछ मौकों पर ठीक है; हमेशा क्षमा ठीक नहीं, कुछ मौकों पर ठीक है, इस आशय का वाक्य महाभारत में आता है, तेज और क्षमा की परस्पर पूरकता और परस्पर विरोध को बताने के लिए।

लेकिन जहाँ क्षमा को शक्तिरूप में देखा है, वहाँ क्षमा में दुर्बलता नहीं है। जिस शख्स ने सौ दफा क्षमा की और एक सौ एकवीं बार शासन किया, उसने क्षमा को शक्ति नहीं माना। अगर मानता, तो क्षमा कितनी बार की, इसकी गिनती वह न करता।

क्षमा : एक शक्ति

एक दफा क्षमा की, परिणाम नहीं आया, तो वह उससे ज्यादा गहरी क्षमा, गहरी वृत्ति, सौम्य वृत्ति बनाता–उसे सौम्यतर बनाता, यह प्रक्रिया करता। जैसे, किसीसे तलवार चलाकर काम नहीं हुआ, तो उसने पिस्तौल निकाली और पिस्तौल से काम नहीं हुआ, तो उसने स्टेन-गन निकाली, इत्यादि-इत्यादि। शस्त्र पर जिसका विश्वास था, उसने एक शस्त्र से जय नहीं हुई, तो उससे तीव्र शस्त्र निकाला, क्योंकि उसकी शस्त्र पर श्रद्धा थी—एक शक्ति के रूप में। ऐसी क्षमा पर

जिसकी श्रद्धा हो, शक्ति के रूप में, तो वह क्षमा ही करता रहेगा, उसकी गिनती नहीं करेगा। प्रथम क्षमा में अगर परिणाम नहीं आया हो, तो उससे अधिक सौम्य मनोवृत्ति धारण कर क्षमा-शस्त्र को ज्यादा धारण करेगा, उससे ज्यादा तीक्ष्ण बनायेगा। क्षमा की तीक्ष्णता उसकी सौम्यता में होगी। वह क्षमा की तरफ शक्तिरूपेण देखेगा। अब क्षात्र-वृत्ति का जमाना खतम हो रहा है। जब कि विज्ञान-युग में भयानक शस्त्रों की खोज हो रही है, तब क्षात्र-वृत्ति का सवाल रहा नहीं। आसमान से, ऊपर से बम गिरे, उसमें कौन सी क्षात्र-वृत्ति है? घर बैठे-बैठे संहारक शस्त्र भेजे जायँ, उसमें क्षात्र-वृत्ति का सवाल ही नहीं है। उसमें योजना का सवाल है, योजनापूर्वक संहार करने की बात है। उसको मैं हिंसा नाम नहीं देता, वह हिंसा नहीं, संहार ही है। ऐसी संहार करने की शक्ति जहाँ मानव के हाथ में आयी, वहाँ क्षात्र-वृत्ति का सवाल ही नहीं रहा। इसलिए उस शस्त्र का मुकाबला करनेवाला शस्त्र कोई हो सकता है, तो वह 'क्षमा' ही हो सकता है।

क्षमा में 'क्षम्' धातु है। गुजराती में 'खमनु' कहते हैं। क्षमा करना यानी सहन करना। पृथ्वी के मुताबिक हमें सहन करना है। इतना ही नहीं, बल्कि जो प्रहार करता है, उसे भी कुछ हमारी तरफ से भलाई का प्रसाद देना है। इस तरह क्षमा का प्रयोग होता है, तो वह एक सूक्ष्मतम और सौम्यतम सत्याग्रह का रूप होता है।

प्रेम और क्षमा

प्रेम एक बहुत बड़ी वस्तु है। अगर वह न हो तो मनुष्य

का, प्राणी का जन्म ही न हो और पालन भी न हो। लेकिन उसकी शक्ति तब बनती है, जब प्रेम क्षमा के रूप में आता है। अपराध को क्षमा-शस्त्र से खंडित करना, **'क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ?'** लोग इसे मानते हैं और यह समझते भी हैं कि व्यक्तिगत क्षेत्र में क्षमा ठीक है, लेकिन सामाजिक क्षेत्र में नहीं। यह एक नया द्वैत हो गया है कि व्यक्तिगत क्षेत्र में जो गुण काम का है, वह सामाजिक क्षेत्र में बेकाम ! हम मानते हैं कि जो नीति व्यक्ति के जीवन को लागू होती है और लाभदायी होती है, वही नीति समाज के जीवन के लिए लागू होती है और लाभ पहुँचाती है। यहाँ प्रेम का उल्लेख नहीं किया, पर प्रेम का अत्यन्त उत्कर्षमय रूप ध्यान में लेकर 'क्षमा' शब्द इस्तेमाल किया है। शस्त्ररूप से और शक्ति-रूप से यहाँ 'क्षमा' की तरफ देखा है।

१-९-'६०

कुछ उपयोगी साहित्य

महागुहा में प्रवेश	विनोबा
गीता-प्रवचन	,,
कुरान-सार (हिन्दी)	,,
कुरान सार (अरबी नागरी लिपि)	,,
स्त्री-शक्ति	,,
जपुजी	,,
ख्रिस्त धर्म सार	,,
गीताई चिन्तनिका	,,
गुरुबोध-सार	,,
विज्ञान युग में धर्म	,,
बोलती कहानियाँ (६ भाग)	,,
राम नाम : एक चिन्तन	,,
शुचिता से आत्मदर्शन	,,
गीता तत्त्व-बोध (दो खण्ड)	बालकोबा भावे
जीवन-साधना	,,
पथदीप	,,
गांधी-बोध	सं० ,,
आओ हम बनें (आठ भाग)	श्रीकृष्णदत्त भट्ट
माता-पिताओं से	म० भगवानदीन
क्रान्ति की शक्ति	सं० कुमार प्रशान्त
नये युग की नारी	दादा धर्माधिकारी
स्त्री-पुरुष-सहजीवन	,,



मूल्य
सात रुपये